अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात् ।
सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्त्तितः ।
ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते ॥ ७२ ॥
तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।

अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि ऐसा ही इस संसार में देखा जाता है। नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है। अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है। अतः यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है ॥ ६७ ॥

अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछुड़ने का डर तो रहता ही है। आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है। यहाँ आकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है ॥ ६८–६९ ॥

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है। इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ७० ॥

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७१ ॥

ज्ञेय का यही स्वरूप है। जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक वे कुछ नहीं हैं। जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यही इस ज्ञान का फल भी माना गया है ॥ ७२–७३½ ॥

ज्ञात्रादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भेदविवर्जितम् ।
संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
तत्परत्वे तु सम्पूर्णे नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥
अपूर्णे तत्परत्वे तु किं सहस्रसुसाधनैः ।
तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम् ॥ ७९ ॥
तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थितिः ।
यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ८० ॥
दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि ।
बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः ॥ ८१ ॥
बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः ।
यैर्जनाः सततन्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ ॥ ८२ ॥

यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अतः इस भेद-कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं ॥ ७४–७५ ॥

सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है ॥ ७६ ॥

किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है ॥ ७७ ॥

इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ७८ ॥

यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है ॥ ७९ ॥

"जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा" इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है ॥ ८० ॥

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे। बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥ ८१ ॥

बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है। इसी

तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना ।
तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसङ्ग्रहः ॥ ८३ ॥
द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः ।
मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः ॥ ८४ ॥
नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः ।
एतद् द्वयन्तु तात्पर्ये मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ॥ ८५ ॥
विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात् ।
अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः ॥ ८६ ॥
अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम् ।
तत्परित्यज्य सत्तर्कावर्त्तनस्य प्रसाधने ॥ ८७ ॥
विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः ।
ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति ॥ ८८ ॥
कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका ।
कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्त्तते ॥ ८९ ॥
लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः ।
पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च ॥ ९० ॥

…द्ध के वात्याचक्र में फँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते …ते हैं ॥ ८२ ॥

इनका पहला दोष है—अविश्वास। दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा …ष है—जड़ता। मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं ॥ ८३ ॥

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय। मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या …हीं ? यह पहला संशयदोष है ॥ ८४ ॥

मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है। ये दोनों …ो तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं ॥ ८५ ॥

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं। किन्तु …नके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं ॥ ८६ ॥

अविश्वास का मूल कारण है—शास्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा। इसे छोड़कर यदि …ास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे …िटाया जा सकता है। श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा ॥ ८७–८८ ॥

कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है। क्योंकि जिस बुद्धि …ें कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है ॥ ८९ ॥

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी …ाम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे …ान में कही बात ही सुनाई पड़ती है ॥ ९० ॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम् ।
कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम् ।
आशा हि कामः सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
दृढवैराग्ययोगेन सर्वां तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।
तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्धि कारणम् ।
सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनसुनी कर देता है । ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए ॥ ९१ ॥

काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है । इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है ॥ ९२ ॥

अतः विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए । आशा का ही दूसरा नाम काम है । मनुष्य के मन में—'मुझे यह मिल जाय' इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है ॥ ९३ ॥

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है । ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए ।

ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना । विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है ॥ ९५ ॥

मुनियो ! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता । इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है ॥ ९६ ॥

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पातीं । मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है ॥ ९७ ॥

इससे छुटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ

जाड्यात्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि।
भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः।
उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत्।
यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः।
पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत्।
एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥
तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः।
सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम्।
तदभावनमात्रञ्च सिद्धिर्मौढ्यविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना।
अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥

…ही नहीं। साधक की उपासना के अनुसार कम या ज्यादे उसकी जड़ता मैं दूर करती हूँ ॥ ९८ ॥

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या ज्यादे जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है ॥ ९९ ॥

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है। जो हमेशा निश्छल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विघ्नों को पार कर निहाल हो जाता है ॥ १००½ ॥

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ। अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है। उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है ॥ १०१–१०२ ॥

अतः हे तापसो ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अतः तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है। इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है ॥ १०३½ ॥

देह को आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है। देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है ॥ १०४–१०५ ॥

'मैं कौन हूँ ? इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है ॥ १०६ ॥

तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम् ।
तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ॥ १०७ ॥
सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नातः सिद्धिरनन्तरा ।
सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ॥ १०८ ॥
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ॥ १०९ ॥
इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका ।
स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ॥ ११० ॥
आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ॥ १११ ॥
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
कियन्त्येताः सिद्धयो वै कालक्षपणहेतवः ॥ ११२ ॥
तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
ययाऽत्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ॥ ११३ ॥
सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युग्रासविमोचिनी ।
इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदतः ॥ ११४ ॥
बुद्धिनैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ॥ ११५ ॥

अतः यह विशुद्ध चिति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देहों को मिटा देना है। इसी स्थिति को विज्ञजनों ने सिद्धि कहा है। इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं है ॥ १०७–१०८ ॥

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित है। अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है ॥ १०९ ॥

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है। ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती हैं ॥ ११० ॥

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है। भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है ? ॥ १११ ॥

जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ? ॥ ११२ ॥

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है ॥ ११३ ॥

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है। अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है। किन्तु

लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ॥ ११६ ॥
अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा ।
समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा ॥ ११७ ॥
पूर्ववद्याऽप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः ।
या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा ॥ ११८ ॥
पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा ।
एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षयः ॥ ११९ ॥
या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने ।
अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः ॥ १२० ॥
अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा ।
अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता ॥ १२१ ॥
स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थितिः ।
विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा ॥ १२२ ॥
सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ॥ १२३ ॥

लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है — उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ११४–११५½ ॥

बुद्धि की प्रखरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है ॥११६½॥

पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है ॥ ११७½ ॥

जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है ॥ ११८½ ॥

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है । जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा आत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या बेशी भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है । इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है ॥ ११९–१२१ ॥

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है ॥ १२२ ॥

जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर ज्ञान जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं ॥ १२३ ॥

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता ॥ १२४ ॥
व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
जागरादौ व्यवहरन्नपि निदितवद्यदा ।
स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥
निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
सर्वं सुखश्च दुःखश्च व्यवहारश्च जागतम् ॥ १३० ॥
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥

बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है । जगे रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए । ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥१२५–१२६½॥

लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२७½ ॥

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२८½ ॥

जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९½ ॥

सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३०½ ॥

अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१½ ॥

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया ।
एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
इत्युक्त्वा सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह ।
श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥
नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापौघनाशिनी ॥ १३६ ॥
श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
पठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
संसारतिमिराम्भोधौ मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः ।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३२½ ॥

अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ । मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है । मुनियो ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया । मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं ॥ १३३–१३४ ॥

हे परशुराम ! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई । उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया । शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये ॥ १३५½ ॥

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करनेवाली विद्यागीता सुनायी । इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय ॥ १३६½ ॥

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है । जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं । इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है ॥ १३७–१३८ ॥

विशेष—इस श्लोक में 'तरणि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है । कोषगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है । यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा अन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का श्लिष्ट प्रयोग सुपयुक्त है ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।

एकविंशोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो दत्तात्रेयमुनीरितम् ।
अविद्याजालविभ्रान्तेर्मुक्तप्रायो बभूव ह ॥ १ ॥
पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं किञ्चिन्नत्वा सुभक्तितः ।
भगवन् ब्रूहि विज्ञानसाधनं सुविनिश्चितम् ॥ २ ॥
सारभूतञ्च सुलभं यत् साक्षात् फलदायकम् ।
ज्ञानिनां लक्षणञ्चापि येन ज्ञास्यामि तान् द्रुतम् ॥ ३ ॥
ज्ञानिनां देहसंयोगे वियोगे च स्थितिं यथा ।
व्यवहारं कुर्वतां चाप्यनासक्तं मनः कथम् ॥ ४ ॥
एतत् सर्वं सुकृपया स्पष्टं मे वक्तुमर्हसि ।
एवमत्रिसुतः पृष्टो जमदग्निसुतेन वै ॥ ५ ॥
सन्तुष्टः प्राह करुणासिन्धुः सम्बोध्य भार्गवम् ।
श्रृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ज्ञानसाधनम् ॥ ६ ॥
ज्ञानस्य साधनं मुख्यं देवतानुग्रहः परः ।
यः सर्वभावतः स्वात्मदेवतामुपसङ्गतः ॥ ७ ॥
तस्य ज्ञानं सुसुलभं भवतीति विनिश्चयः ।
एतत् सर्वोत्तमं राम प्रोक्तं ज्ञानस्य साधनम् ॥ ८ ॥

(ज्ञान के प्रमुख साधन, ज्ञानियों के लक्षण तथा हेमाङ्गद एवं ब्रह्मराक्षस का संवाद)

इस तरह परशुरामजी गुरु दत्तात्रेय का उपदेश सुनकर अविद्याजालरूपी संशय से प्रायः मुक्त हो गये ॥ १ ॥

अतिविनत भाव से भक्तिपूर्वक गुरु दत्तात्रेय को प्रणाम कर उन्होंने फिर पूछा—भगवन् ! ज्ञान पाने के लिए बिलकुल निर्णीत एवं पक्का साधन क्या है ? यह समझा दें। वह साधन सुलभ हो और मोक्षरूपी फल देनेवाला हो। ज्ञानियों को देखते ही मैं पहचान लूँ; इसके लिए उनका लक्षण भी बतलाने का कष्ट करें ॥ २–३ ॥

देह के साथ लगाव या अलगाव में उनकी हालत कैसी रहती है ? कामकाज करते समय भी उनका मन उनसे लिप्त क्यों नहीं होता ? ये सभी बातें कृपया मुझे साफ-साफ समझा दें ॥ ४–५ ॥

परशुरामजी का यह प्रश्न सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेयजी ने काफी प्रसन्न होकर कहा—सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ज्ञान का गुप्त साधन बतलाता हूँ ॥ ५–६ ॥

परमात्मा का परम अनुग्रह ही ज्ञान का प्रमुख साधन है। जो आदमी पूरी

अन्यानपेक्षमेतत्तु फलसंसाधने क्षमम् ।
एतद्विहायान्यदत्र न सम्यक् फलदं भवेत् ॥ ९ ॥
शृण्वत्र कारणं राम सकारणमिदं भवेत् ।
विज्ञानं केवलञ्चितिर्या सर्वस्यावभासिका ॥ १० ॥
तस्यावभासरूपायाः कल्पितावरणन्तु यत् ।
विचारात् तदपोह्येन तत् स्वरूपोपलक्षणम् ॥ ११ ॥
तच्चान्येषां बहिर्भावितत्पराणां सुदुर्लभम् ।
भक्तानामन्यपरताहानेन तत्परत्वतः ॥ १२ ॥
सुलभं शीघ्रसम्प्राप्यं भवत्येव सुनिश्चितम् ।
देवतातत्परस्त्वेव भूत्वा स्वल्पान्यसाधनः ॥ १३ ॥
ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानमन्यान् प्रति निरूपयेत् ।
निरूपयन् सदा राम समावेशं समाप्नुयात् ॥ १४ ॥
एवं निरूपणाद्यैस्तु समावेशे दृढे सति ।
शिवतामाप्य तच्चित्तं हर्षोद्वेगविवर्जितम् ॥ १५ ॥

लगन के साथ इस आत्मदेव की शरण में जाता है, उसके लिए ज्ञान सुलभ हो जाता है—यह तथ्य-निर्णीत है । अतः हे परशुराम ! ज्ञान का परमोत्कृष्ट साधन यही है ॥ ७–८ ॥

किसी दूसरे साधन की सहायता के बिना ही यह साधन ज्ञान का फल दिलाने में सक्षम है और यदि यह न हो तो दूसरा कोई साधन ठीक-ठीक फल नहीं दिला सकता है ॥ ९ ॥

हे परशुराम ! इसकी वजह सुनो, यह बात बेवजह नहीं है । दरअसल ज्ञान अपने आप में शुद्धचेतन ही है । यह तो सबका प्रकाशक है ॥ १० ॥

इस चेतन का स्वरूप प्रकाश है । यह प्रकाश एक नकली ढक्कन से ढका है । इस पर विचार करते ही इसका नकली आवरण हट जाता है और असली रूप साफ झलकने लगता है ॥ ११ ॥

किन्तु दूसरे साधकों को, जो दुनियादारी में लगे रहते हैं, ऐसा होना बड़ा कठिन है । भक्तों को भगवान् के सिवा और किसी से तो लगाव होता ही नहीं । अतः उन्हें यह फल बड़ी आसानी से मिल जाता है—यह बात बिलकुल निश्चित है ॥ १२½ ॥

पर जो परमात्मा में दिन-रात लगे हैं, वे यदि वैराग्य जैसे दूसरे साधनों का भी थोड़ा सहारा लेकर उस परमतत्त्व से परिचित होकर दूसरे साधकों के सामने लगातार उसका बखान करें तो निश्चय ही वे परमात्मा की तरह हो जायेंगे ॥ १३-१४ ॥

इस तरह परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचनापूर्वक निश्चय करते हुए जब उसकी समानता पक्की हो जाय तब उन्हें शिवत्व मिल जाता है । वे दुःख और सुख से परे हो

यत्र यत्र व्रजति तत् सर्वं तच्छिवसात्कृतम् ।
करोत्युत्तमविज्ञानी जीवन्मुक्तपदस्थितः ॥ १६ ॥
तस्मात् सुभक्तियोगेनान्येभ्यो भूयो निरूपणम् ।
श्रेष्ठं साधनमेतत्तु नान्यदेतत्समं भवेत् ॥ १७ ॥
भक्त्या निरूपणसमं न भवेदन्यसाधनम् ।
ज्ञानिनां लक्षणं राम दुर्विज्ञेयं भवेत् खलु ॥ १८ ॥
यतः सर्वान्तरं तत्तु नेत्रवागाद्यगोचरम् ।
न निरूपयितुं शक्यं लक्षितुं वा परैः क्वचित् ॥ १९ ॥
यथा शास्त्रज्ञता लोके त्वन्यैर्न ज्ञायते क्वचित् ।
देहवस्त्रभूषणाद्यैरेवमन्यैर्न वेद्यते ॥ २० ॥
विद्वत्ता हि स्वसंवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा ।
यथा संस्वादितरसरसज्ञत्वं हि भार्गव ॥ २१ ॥
तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः ।
वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्मपिपीलकैः ॥ २२ ॥
सन्ति स्थूललक्षणानि त्वनेकान्तानि तानि तु ।
सूक्ष्मलक्ष्माणि चान्यानि दुर्विज्ञेयानि वै परैः ॥ २३ ॥

जाते हैं । ऐसे लोग जहाँ कहीं भी जाते हैं वहाँ शिवमय कर देते हैं । ऐसे ज्ञानी उत्कृष्ट होते हैं और जिन्दा रहकर भी जीवन्मुक्त बन जाते हैं ॥ १५–१६ ॥

भक्तिभाव से दूसरे जिज्ञासुओं के सामने बार-बार आत्मतत्त्व का विवेचन करना ही श्रेष्ठ साधन है । इसके समान और कोई दूसरा साधन है ही नहीं । सचमुच भक्तिपूर्वक इस आत्मतत्त्व का विवेचनापूर्वक निश्चय करने से बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥ १७½ ॥

परशुराम ! रही बात ज्ञानियों के लक्षण की, सो इसे जानना तो बड़ा ही कठिन है । इसका असली रूप तो भीतरी है । इसे न तो आँखों से देखा जा सकता है और न ही यह इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला है । दूसरा कोई इसका न तो विवेचन कर सकता है और न दर्शन ही ॥ १८–१९ ॥

जैसे किसी की देह कैसी है ? उसके कपड़े और जेवर कैसे हैं ? यह जाना जा सकता है, उसी तरह उसका शास्त्र-ज्ञान तो नहीं जाना सकता; ठीक उसी तरह किसी के ज्ञान की थाह पाना संभव नहीं है ॥ २० ॥

शरबत की मिठास की अनुभूति तो जैसे शरबत पीनेवाले को ही होती है, उसी तरह तत्त्वज्ञता की अनुभूति आत्मा को ही होती है, दूसरे को नहीं ॥ २१ ॥

फिर भी नन्हीं-नन्हीं चिटियाँ जैसे अपनी राह आप खोज लेती हैं, उसी तरह चतुर विद्वान् पुरुष ज्ञानियों की बातें सुनकर उन्हें पहचान ही लेते हैं ॥ २२ ॥

इनमें कई स्थूल लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु वे लक्षण केवल इन्हीं में हो ऐसी

निरूपणं भाषणञ्च साधनाभिनयस्तथा ।
ज्ञानिनामिव चान्यैस्तु कुर्त्तुं शक्यो हि लक्ष्यते ।। २४ ।।
अनिर्मलान्तःकरणैरभ्यस्तं ज्ञानसाधनम् ।
स्थिरीभवति यत्तेषां लक्षणं तत् प्रकीर्त्तितम् ।। २५ ।।
यस्य मानावमानौ च लाभालाभौ जयाजयौ ।
नेषद्विशेषितुं शक्तौ विद्यात्तं ज्ञानिषूत्तमम् ।। २६ ।।
स्वात्मानुभववार्त्तासु पृष्टो गूढार्थमप्युत ।
असन्दिग्धः प्रतिवदेज्झटिति ज्ञानिषूत्तमः ।। २७ ।।
यस्योत्साहो भवेज्ज्ञानं वार्त्तास्वतितरां किल ।
निरूपणे ह्यवैमुख्यं ज्ञानिनो लक्षणं हि तत् ।। २८ ।।
अनारम्भः स्वभावेन सन्तोषः शुचिचित्तता ।
महापत्स्वपि शान्तात्मा स भवेज्ज्ञानिषूत्तमः ।। २९ ।।
एतदादीनि लक्ष्माणि भार्गवोत्तमाज्ञनिनाम् ।
स्वात्मनस्तु परीक्षायां सुस्थिराणि न संशयः ।। ३० ।।
साधकस्तु सदा स्वात्मपरीक्षातत्परो भवेत् ।
यथा परीक्षणेऽन्यस्य निपुणः सम्प्रवर्त्तते ।। ३१ ।।

बात नहीं है । इसी तरह अनेक सूक्ष्म लक्षण भी इनमें हैं, किन्तु दूसरे लोग इन्हें जान नहीं पाते ।। २३ ।।

इस तरह देखने में आता है कि ज्ञानियों की तरह निरूपण, भाषण एवं साधनों का नाटक दूसरे लोग भी कर सकते हैं ।। २४ ।।

जिनका भीतरी मन पवित्र नहीं है, ऐसे लोग भी यदि ज्ञान के किसी साधन का अभ्यास करते हैं तो वे उनमें स्थिर हो जाते हैं और वही उनका लक्षण बन जाता है ।। २५ ।।

जिनके मन में मान-अपमान, हानि-लाभ, हार-जीत में कोई फर्क नहीं पड़ता वे उत्तम ज्ञानी माने गये हैं ।। २६ ।।

अपनी आत्मा के बारे में यदि कोई कठिन सवाल पूछे और उसका सही निश्चित जवाब उसी क्षण कोई दे दे, तो वह ज्ञानियों में उत्तम है ।। २७ ।।

ज्ञान की चर्चा में जिसकी रुचि हो, उसकी विवेचना में जो पीछे न हटे—यह भी उस व्यक्ति के ज्ञानी होने का ही लक्षण है ।। २८ ।।

स्वभाव से ही किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मन का लगाव न हो, मन में सन्तोष हो, हृदय से पवित्र हो, गाढ़ी विपत्ति में भी घबड़ाने की अपेक्षा शान्त रहे, वह ज्ञानियों में उत्तम है ।। २९ ।।

परशुराम ! ज्ञानियों के कुछ ऐसे और भी लक्षण हैं । किन्तु इतना निश्चित है कि वे अपनी परीक्षा में सुस्थिर हैं ।। ३० ।।

तथा परीक्षन् स्वात्मानं सिद्धिं न कथमाप्नुयात् ।
यदान्यगुणदोषाणामविचारणतत्परः ॥ ३२ ॥
स्वीयानां गुणदोषाणां विचारपरमो भवेत् ।
तदा सर्वसाधनानां प्राप्त्या सिद्धिमुपेष्यति ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्तानि लक्ष्माणि ज्ञानिनां भृगुनन्दन ।
स्वात्मनस्तु परीक्षायामुपयुक्तानि सर्वथा ॥ ३४ ॥
अन्येषान्तु परीक्षायामनेकान्तान्यमूनि तु ।
यतो ये ज्ञानिनोऽत्यन्तशुद्धस्वान्ता भृगूद्वह ॥ ३५ ॥
तेषामापातसंसिद्धसाधनैः सिद्धिरास्थिता ।
अतः पूर्ववासनानुरोधव्यापारतत्पराः ॥ ३६ ॥
कथं परीक्षणीयास्ते सामान्यव्यवहारिणः ।
ज्ञानिनस्तु तत्परीक्षां कुर्युरभ्यासवैभवात् ॥ ३७ ॥
आपातदर्शनादेव यथा रत्नपरीक्षकाः ।
मन्दज्ञानवतां देहसंस्था मूढसमैव हि ॥ ३८ ॥
यतो न तेषां सहजसमाधिप्राप्तिरस्ति हि ।
यावद्विमर्शनपरास्तावत्ते पूर्णरूपिणः ॥ ३९ ॥

साधक को तो अपने मन की जाँच-पड़ताल में हमेशा लगे रहना चाहिए। वह जैसे बड़ी होशियारी से दूसरों की जाँच में लगा रहता है, उसी तरह यदि अपनी जाँच करता रहे तो भला उसे सिद्धि कैसे नहीं मिलेगी ? ॥ ३१½ ॥

आदमी जिस समय दूसरों के गुण-दोषों की विवेचना करने की जगह अपने ही गुण-दोषों की छानबीन में लग जायेगा, उसी क्षण वह हर तरह के साधनों को पाकर सिद्धि तो पा ही लेगा ॥ ३२–३३ ॥

हे भृगुनन्दन ! इस तरह यहाँ ज्ञानियों के जो लक्षण बतलाये गये हैं वे तो बिलकुल अपने मन की परीक्षा के लिए ही उपयुक्त हैं ॥ ३४ ॥

लेकिन ये लक्षण दूसरों की जाँच-पड़ताल के लिए बिलकुल ही उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि हे परशुराम ! जिनका मन बिलकुल पाक-साफ है उन्हें तो शुरू में ही अनेक अन्य साधनों से सिद्धि मिल ही जाती है ॥ ३५½ ॥

अतः वे अपने पहले के संस्कार के मुताबिक ही काम-धन्धे में लगे रहते हैं। ऐसे साधारण काम-काजियों की जाँच-पड़ताल तुम कैसे कर सकोगे ? उनकी जाँच तो अपने अनुशीलन की ताकत से ज्ञानीजन ही कर पायेंगे। कोई जौहरी ही तो रत्न को देखते ही परख सकता है, दूसरा नहीं ॥ ३६–३७½ ॥

सुस्त ज्ञानियों की देह की स्थिति तो अज्ञानियों की तरह ही होती है, क्योंकि उन्हें सहज समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३८½ ॥

ऐसे ज्ञानी जब तक विचार में डूबे रहते हैं तब तक तो वे अपने पूरे स्वरूप में ही

यदा विचारमुखास्तदा देहमयत्वतः ।
सुखदुःखजुषोऽत्यन्तं पशुतुल्यतया स्थिताः ॥ ४० ॥
मध्ये मध्ये पूर्णदशासादनान्निर्वृता अपि ।
तेषां या सा पशुदशा सद्विमर्शान्तरालगा ॥ ४१ ॥
न बन्धनाय भवति दग्धरज्जुरिव स्थिता ।
लाक्षारसैर्यदा वस्त्रप्रान्तयुग्मं सुरञ्जितम् ॥ ४२ ॥
व्याप्त्या वासोमध्यमपि सर्वं लाक्षारुणं भवेत् ।
एवं तस्य व्यवहृतिश्चिदामर्शनमध्यगा ॥ ४३ ॥
चिद्रूपात्मैकतां याता न ततो बन्धनाय सा ।
मध्यविज्ञानिनां देहसंयोगो नास्ति सर्वथा ॥ ४४ ॥
देहात्मत्वग्रहो देहसंयोगः प्रोच्यते बुधैः ।
स नास्ति मध्यविज्ञानवतो राम कदाचन ॥ ४५ ॥
अभ्यासातिशयात्तस्य मनो लीनं हि सर्वदा ।
सदा समाहितस्वान्तो व्यवहारो न तस्य हि ॥ ४६ ॥
यो देहयात्रानिर्वाहः सोऽपि तस्य सुषुप्तिवत् ।

...ते हैं, किन्तु जब तक वे विचारोन्मुख नहीं होते तो देह के प्रति मिथ्याज्ञान होने के कारण सुख-दुःख की तीव्र अनुभूतिवश पशु की तरह रहते हैं ॥ ३९–४० ॥

बीच-बीच में उन्हें पूर्ण दशा आती रहती है। इसी से उन्हें शान्ति का अनुभव होता है। फिर भी उस अच्छे विचार के बीच में उन्हें जो पशुदशा प्राप्त होती है, वह ... जली हुई रस्सी की तरह होती है। यही कारण है कि यह रस्सी उनके बन्धन का कारण नहीं बनती ॥ ४१½ ॥

जब किसी कपड़े के दोनों छोर महावर से रंग दिये जाते हैं तो रंग के फैल जाने से कपड़े का बीच का हिस्सा अपने-आप लाल हो जाता है ॥ ४२½ ॥

कहा जा चुका है कि 'परमात्मा चित्स्वरूप है' उनका चिन्तन करते हुए बीच-बीच में जो काम-काज होता है, वह भी उस परमात्मा से अलग नहीं होता है। यही कारण है कि यह काम-काज साधक का बन्धन नहीं बन पाता है ॥ ४३½ ॥

औसत दर्जे के ज्ञानियों को देह के साथ कोई लगाव नहीं रहता। होशियार लोग ... में आत्मबुद्धि को ही देह का लगाव कहते हैं ॥ ४४½ ॥

परशुराम! औसत दर्जे के ज्ञानियों को देह का लगाव कभी नहीं होता। क्योंकि लगातार अनुशीलन से उनका मन हमेशा उसी परमात्मा में लगा रहता है ॥ ४५½ ॥

जिस समय उसका भीतरी मन समाधि में लीन रहता है, उस समय उसका बाहरी व्यवहार बिलकुल बन्द रहता है। उसका खान-पान, चलना-फिरना या अन्य दैहिक क्रियाएँ तो गहरी नींद में किये गये काम की तरह ही होते हैं ॥ ४६½ ॥

यथा कश्चित् सुषुप्तिस्थो वासनामात्रतः क्वचित् ॥ ४७ ॥
किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च न पश्चाद्वेद किञ्चन ।
यथा च मदिरामत्तो वदन् कुर्वन्न वेद वै ॥ ४८ ॥
एवमेष महायोगी लोकयात्राबहिर्गतः ।
किञ्चित् कदाचित् कुर्वंश्च न विजानाति तत् पुनः ॥ ४९ ॥
प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।
यस्तूत्तमः स विज्ञानी देहस्तस्यापि नास्ति हि ॥ ५० ॥
व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।
यथा रथेन व्यापारं कुर्वन्न रथदेहकः ॥ ५१ ॥
सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापारतत्परः ।
न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥ ५२ ॥
अन्तरत्यच्छसुस्वान्तो बहिर्व्यवहरत्यसौ ।
यथा स्त्रीवेषितो नाट्ये द्वैरूप्यमुपसङ्गतः ॥ ५३ ॥
यथा क्रीडन् कुमारेण प्रौढस्तद्दोषवर्जितः ।
एवमेष जगत्क्रीडातत्परो निर्मलाशयः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई सोया हुआ आदमी पहले की गई इच्छा के मुताबिक सपने में कुछ बोल या कर बैठता है तो पीछे जगने पर उसे इस कृत्य का कोई पता नहीं चलता ॥४७½॥

जैसे कोई मदहोश शराबी नशे की झोंक में अनजाने ही कुछ बोलता या करता रहता है। खुमारी उतरने पर उसे पता नहीं चलता कि उसने क्या कहा या किया ? ठीक उसी तरह दुनियादारी से दूर रहनेवाला एक योगी कभी कुछ करता भी है तो बाद में उसे इसका पता ही नहीं चलता ॥ ४८–४९ ॥

ऐसे लोग अपनी देहयात्रा का निर्वाह तो नियति या पूर्वाभ्यास के कारण ही करते हैं। किन्तु जो उत्कृष्ट ज्ञानी है, उनका लगाव देह के साथ बिलकुल नहीं होता। पर रथ पर सवार सारथी की तरह देह के साथ व्यवहार करते हैं ॥ ५०½ ॥

जैसे सारथी रथ पर सवार होकर अपना काम-काज तो करता है, पर वह रथ नहीं हो जाता है। इसी तरह उत्तम ज्ञानी देहयात्रा का निर्वाह करते हुए भी न तो देह बन जाते हैं और न देहयात्रा के निर्वाहक ही। वे तो विशुद्ध ज्ञानी ही बने रहते हैं ॥ ५१–५२½ ॥

वे तो भीतर से बिलकुल पाक-साफ और अपने असली रूप में मौजूद रहते हुए ही ऊपर-ही-ऊपर दुनियादारी का निर्वाह करते हैं। जैसे रंगमंच पर स्त्री के वेश में उतरनेवाला पुरुष अपने दोनों रूप में समान रूप से मौजूद रहता है ॥ ५३ ॥

अथवा जैसे बच्चों के साथ खेलनेवाले सयाने लोग खेल की हार-जीत से बरी रहते हैं, उसी तरह उत्तम ज्ञानी सांसारिक जंजाल में फँसकर भी पाक-साफ बने रहते हैं ॥ ५४ ॥

मध्यज्ञानी निरोधस्य प्रकर्षेणाचलस्थितिः ।
अचलस्थितिरेतस्य विचारस्य प्रकर्षतः ॥ ५५ ॥
बुद्धेस्तु परिपाकेन मध्यमोत्तमयोर्भिदा ।
अत्र ते शृणु वक्ष्यामि संवादं ज्ञानिनोर्मिथः ॥ ५६ ॥
पुरा हि पर्वतेशोऽभूद्राजा रत्नाङ्गदाह्वयः ।
स विपाशामनु पुरीमध्यासीदमृताभिधाम् ॥ ५७ ॥
तस्य पुत्रौ महात्मानौ स्थितावतिमनीषिणौ ।
रुक्माङ्गदहेमाङ्गदौ जनकस्यातिवल्लभौ ॥ ५८ ॥
तत्र रुक्माङ्गदो ह्यासीच्छास्त्राणां पारदर्शनः ।
हेमाङ्गदोऽतिविज्ञानी ज्ञानिनामुत्तमोऽभवत् ॥ ५९ ॥
तावुभौ निर्गतौ सर्वसेनाभिः परिवारितौ ।
मृगयार्थं वसन्तेषु ययतुर्गहनं वनम् ॥ ६० ॥
तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान् शशकान् महिषानपि ।
हत्वाऽत्यन्तपरिश्रान्तावासाद्य ह्रदमास्थितौ ॥ ६१ ॥
तद्ध्रदस्य परे पारे न्यग्रोधे ब्रह्मराक्षसः ।
समस्तशास्त्रपारज्ञो विद्वद्भिर्विवदत्यलम् ॥ ६२ ॥

औसत दर्जे के मध्यम ज्ञानियों की स्थिति तो बहुत ज्यादे अवरोध के कारण अटल बनी रहती है। किन्तु उत्तम कोटि के ज्ञानियों की स्थिति तो बेरोक पर विचार की उत्कृष्टता के कारण ही अटल बनी रहती है ॥ ५५ ॥

इस तरह बुद्धि की प्रौढ़ता की कमी-बेशी के हिसाब से उत्तम और मध्यम कोटि के ज्ञानियों का भेद होता है। इसके बारे में मैं तुम्हें दो ज्ञानियों का पारस्परिक संवाद सुनाता हूँ, सुनो ॥ ५६ ॥

पुराने जमाने की बात है—पहाड़ी इलाके में रत्नांगद नाम का एक राजा था। विपाशा नदी के किनारे अमृता नाम की नगरी में वह रहता था ॥ ५७ ॥

उस राजा को दो बेटे थे। एक का नाम रुक्मांगद और दूसरे का नाम हेमांगद था। दोनों ही बड़े बुद्धिमान्, उदारमना और पिता के अत्यन्त प्यारे थे ॥ ५८ ॥

उनमें रुक्मांगद तो सकलशास्त्र-विशेषज्ञ था और हेमांगद ज्ञानियों में श्रेष्ठ और आत्मदर्शी था ॥ ५९ ॥

एक बार अपनी सारी सेना के साथ दोनों भाई नगर से बाहर निकले। वसन्त का समय था। शिकार खेलने के लिए दोनों भाई सघन बन में घुस गये ॥ ६० ॥

वहाँ उन्होंने अनेक हिरनों, बाघों, खरहों और गेंडों को मार गिराया। फिर थक कर एक सरोवर के किनारे आकर बैठ गये ॥ ६१ ॥

उस सरोवर के दूसरे किनारे पर एक विशाल बरगद का पेड़ था। उस पेड़ पर

निर्जितान् भक्षयन्नास्ते चिरकालाद्धि भार्गव ।
रुक्माङ्गदश्चारमुखान्निशम्य वादकौतुकी ॥ ६३ ॥
गत्वा तत्र भ्रातृयुतस्तेन वादपरोऽभवत् ।
निर्जितस्तेन वादेषु गृहीतो ब्रह्मरक्षसा ॥ ६४ ॥
रुक्माङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा प्राह हेमाङ्गदस्तु तम् ।
भो ब्रह्मराक्षसैनं त्वं न भक्षयितुमर्हसि ॥ ६५ ॥
मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य ततो नौ सह भक्षय ।
हेमाङ्गदवचः श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥ ६६ ॥
चिराय लब्धो ह्याहारो बुभुक्षा मां प्रबाधते ।
एतेन पारणां कृत्वा विवदामि त्वया सह ॥ ६७ ॥
ततस्त्वामपि निर्जित्य भक्षितेन त्वया ततः ।
अत्यन्तं तर्पितो भूयामिति मे नृप निश्चयः ॥ ६८ ॥
चिरादेष वरः प्राप्तो वसिष्ठात्तु महात्मनः ।
कदाचिदागतः शिष्यो वसिष्ठस्य तु भक्षितः ॥ ६९ ॥
देवराताभिधस्तेन शप्तस्तेन महात्मना ।

एक ब्रह्मराक्षस रहता था। वह शास्त्रज्ञान में पारंगत था। विद्वानों के साथ वह शास्त्रार्थ करता था ॥ ६२ ॥

हे परशुराम ! शास्त्रार्थ में वह जिसे पराजित कर देता था उसे खा जाता था। पिछले बहुत दिनों से उसका यह सिलसिला जारी था। रुक्मांगद को भी वाद-विवाद का शौक था। उन्हें जब इसकी खबर मिली तब वह भाई के साथ वहाँ जाकर उससे शास्त्रार्थ करने लगा ॥ ६३½ ॥

ब्रह्मराक्षस से रुक्मांगद हार गया। उसने रुक्मांगद को पकड़ लिया। यह देखकर हेमांगद ने कहा—'हे ब्रह्मराक्षस ! तुम इन्हें मत खाओ। मैं इनका छोटा भाई हेमांगद हूँ, हमें पहले जीत लो। फिर हम दोनों को एक साथ ही खा लेना ॥ ६४–६५½ ॥

हेमांगद की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—मुझे बहुत जोर से भूख लगी है। बहुत दिनों के बाद मुझे यह आहार मिला है। पहले मुझे इसका पारण कर लेने दो फिर तुमसे शास्त्रार्थ कर लूँगा ॥ ६६–६७ ॥

फिर तुम्हें भी जीत कर खा लूँगा तो मेरा पेट भर जायेगा। राजन् ! यही मेरा विचार है ॥ ६८ ॥

बहुत दिन बीत गये। महर्षि वशिष्ठ ने मुझे ऐसा ही वरदान दिया था। एक बार उनका देवरात नामक शिष्य यहाँ आया था, उसे मैं खा गया तो उन्होंने मुझे शाप दिया ॥ ६९½ ॥

इतः परं भक्षयित्वा मनुष्यं ब्रह्मराक्षसः ॥ ७० ॥
दग्धं भवेत्तव मुखमिति पश्चान्मया मुनिः ।
भूयः सम्प्रार्थितो मह्यं प्रायच्छद्वरमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
वादेषु निर्जितान् मर्त्यान् भक्षय त्वं समन्ततः ।
इति तद्वादविजितान् भक्षयामि ततस्त्वहम् ॥ ७२ ॥
चिरायैष मया प्राप्त आहारः सर्वतोऽधिकः ।
भक्षयित्वा ततो वादे त्वां विजेष्यामि भूमिप ॥ ७३ ॥
इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं पुनर्हेमाङ्गदोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मराक्षस मद्वाक्यं किञ्चिच्छृणु मया चितः ॥ ७४ ॥
अपि किञ्चित् त्राप्य चैनं परित्यजसि तद्वद ।
दत्वा तुभ्यं तदेनं तु मोचयामि सहोदरम् ॥ ७५ ॥
इत्युक्तः प्राह भूयस्तं नृपं स ब्रह्मराक्षसः ।
शृणु राजन्नास्ति तद्वै किञ्चिद्येनैनमुत्सृजे ॥ ७६ ॥
कः प्राणप्रियमाहारं त्यजेत् कालोपसङ्गतम् ।
किन्त्वेकः समयो मेऽस्ति प्रश्ना मे हृदि संस्थिताः ॥ ७७ ॥
तान्मे यदि प्रतिब्रूयास्तत्ते भ्रातरमुत्सृजे ।
ततो हेमाङ्गदः प्राह पृच्छ तान् संवदामि ते ॥ ७८ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! इसके बाद यदि तुम किसी आदमी को खाओगे तो तुम्हारा मुँह जल जायेगा ।' फिर मैंने जब उनकी काफी विनती की तब उन्होंने यह सुन्दर वर दिया ॥ ७०–७१ ॥

'शास्त्रार्थ में पराजित आदमी को तुम खा सकते हो' इसीलिए शास्त्रार्थ में जिसे जीतता हूँ उसे मैं खा जाता हूँ ॥ ७२ ॥

बहुत दिनों के बाद राजन् ! मुझे यह सुन्दर आहार मिला है । पहले इसे खा लेता हूँ, बाद में तुम्हें जीतूँगा ॥ ७३ ॥

इतना कहकर वह रुक्माङ्गद को खाने के लिए तैयार हो गया । यह देखकर हेमाङ्गद ने कहा—ब्रह्मराक्षस ! मेरी एक छोटी-सी बात सुनो—बतलाओ, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं तुम्हें दूँ और वह लेकर तुम इन्हें छोड़ दो ॥ ७४–७५ ॥

यह सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—राजन् ! सुनो ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके बदले में मैं इसे छोड़ दूँ ॥ ७६ ॥

भला इतने दिनों के बाद अपने प्रिय आहार को पाकर उसे कौन छोड़ना चाहेगा ? किन्तु मेरी एक शर्त है, मेरे मन में कुछ सवाल हैं । यदि तुम उसका सही जवाब दे दोगे तो तुम्हारे भाई को छोड़ दूँगा ॥ ७७½ ॥

तब हेमाङ्गद ने कहा—'पूछो, मैं उसका जवाब दूँगा ।' इतना सुनने के बाद

इत्युक्तो नृपपुत्रं तं पप्रच्छ ब्रह्मराक्षसः।
गूढप्रश्नान् क्रमेणैव तद्वक्ष्ये शृणु भार्गव ॥ ७९ ॥
आकाशाद्विततता या स्यात् सूक्ष्मा च परमाणुतः।
सा किंरूपा स्थिता कुत्र वदैतन्नृपपुत्रक ॥ ८० ॥
वितता चितिराकाशात् सूक्ष्मा च परमाणुतः।
स्फुरद्रूपा स्वात्मसंस्था शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८१ ॥
एकापि साऽतिवितता कथं सूक्ष्मतरा भवेत्।
स्फुरत्त्वं किं किमात्मा च वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८२ ॥
कारणत्वाद्धि वितता सूक्ष्माऽग्राह्यत्वतोऽपि च।
स्फुरत्त्वमात्मा च चितिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८३ ॥
स्थानं तदुपलब्धौ किं कथं वा सोपलभ्यते।
उपलब्ध्या च किं वा स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८४ ॥
धीः स्थानमुपलब्धौ तु स्वैकाग्र्यात् सोपलभ्यते।
उपलब्ध्या जनिर्न स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८५ ॥
धीः केयं समाख्याता तदैकाग्र्यं च कीदृशम्।
जनिर्वापि भवेत् का सा वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८६ ॥

उस ब्रह्मराक्षस ने कई गम्भीर सवाल पूछे। सुनो परशुराम ! वह सवाल कहता हूँ ॥ ७८–७९ ॥

हे राजकुमार ! बतलाओ, वह कौन सी वस्तु है जिसका फैलाव आकाश से भी ज्यादे है और परमाणु से भी छोटा है ? उसका रूप कैसा है और वह कहाँ रहती है ? ॥ ८० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! वह वस्तु चिति है। चिति आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी है। उसका रूप स्फुरण है। वह अपनी आत्मा में मौजूद है ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! वह तो एक ही है, फिर एक साथ बहुत बड़ी और बहुत छोटी कैसे हो सकती है ? यह स्फुरण क्या है ? और फिर आत्मा क्या है ? बतलाओ ॥८२॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! सबका कारण होने की वजह से बहुत बड़ी है और इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण सबसे छोटी है। स्फुरण और आत्मा तो चिति का ही अपर नाम है ॥ ८३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, उसे पाने की जगह कहाँ है ? कैसे वह पायी जा सकती है ? और उसे पा लेने पर क्या होता है ? ॥ ८४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! उसे पाने की जगह बुद्धि है। एकाग्र मन से उसे पाया जाता है। उसे पा लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ८५ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, बुद्धि किसे कहते हैं ? उसकी एकाग्रता कैसे होती है ? और जन्म लेना क्या है ? ॥ ८६ ॥

चितिर्जाड्यावृता धीः स्यादैकाग्र्यं स्वात्मविश्रमः ।
जनिर्देहात्मताबुद्धिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८७ ॥
कस्माच्चितेर्नोपलब्धिः केन वा सोपलभ्यते ।
जनिः कथं वा सम्प्राप्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८८ ॥
अविवेकान्नोपलब्धिरात्मना सोपलभ्यते ।
जनिः कर्तृत्वाभिमानाच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८९ ॥
कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तस्तथात्मा वापि को भवेत् ।
को वा कर्तृत्वाभिमानो वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९० ॥
अविवेकोऽपृथक्ज्ञानमात्मानं पृच्छ स्वात्मनि ।
तद्वासनाभिमानः स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९१ ॥
अविवेकः केन नश्येत् तस्य किं वा हि कारणम् ।
तस्यापि किं कारणं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९२ ॥
विचारेण स नश्येद्वै वैराग्यं तस्य कारणम् ।
तत्कारणं दोषदृष्टिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९३ ॥
को विचारो भवेत् किं वा वैराग्यं सम्प्रचक्षते ।
दोषदृष्टिश्च का प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! जड़ता अर्थात् अविद्या से बिना ढकी पवित्र बुद्धि ही चिति है। अपनी आत्मा में ठहर जाना ही एकाग्रता है और देह में आत्मबुद्धि ही जन्म है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! तुम यह बतलाओ कि चिति मिलती क्यों नहीं ? वह साधन क्या है, जिसके माध्यम से वह मिलती है ? और जन्म कैसे होता है ? ॥ ८८ ॥

ब्रह्मराक्षस सुनो ! अपनी नादानी की वजह से चिति नहीं मिलती है। वह तो खुद ही मिल जाती है। काम करने के अहंकार से जन्म होता है ॥ ८९ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि तुमने नादानी किसे कहा ? स्वयं अर्थात् आत्मा क्या है ? कर्त्तापन का अभिमान क्या है ? ॥ ९० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! देह को आत्मा से अलग न समझना ही नादानी है। आत्मा क्या है ? इसे खुद से पूछो। 'मैं करता हूँ' ऐसा सोचना ही कर्त्तापन का घमण्ड है ॥ ९१ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, नादानी कैसे मिट सकती है ? उसका कारण क्या है ? और उस कारण का भी कोई कारण है क्या ? ॥ ९२ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! विचार करने से नादानी मिटती है। उसकी वजह विरक्ति है और विरक्ति का कारण विषयों में दोषदृष्टि है ॥ ९३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ कि विचार क्या है ? विरक्ति किसे कहते हैं ? दोषदृष्टि क्या कहलाती है ? ॥ ९४ ॥

दृग्दृश्ययो परीक्षातो दृश्ये तत्परिवर्जनम् ।
दुःखबुद्धिः सा हि दृश्ये शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९५ ॥
एतत् सर्वं केन भवेत् स वा कस्मादवाप्यते ।
तत्र वा किं निदानं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९६ ॥
देवतानुग्रहात् सर्वं भक्त्या सा हि समाप्यते ।
निदानं सत्सङ्ग एव शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९७ ॥
का देवता च सम्प्रोक्ता का च सा भक्तिरुच्यते ।
सन्तश्च कीदृशाः प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९८ ॥
देवता स्याज्ज्जगद्धात्री भक्तिस्तत्परतोच्यते ।
सन्तः शान्ता दयावन्तः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९९ ॥
सदा बिभेति को लोके सदा दुःखपरोऽपि कः ।
सदा दैन्ययुतः को वा वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०० ॥
महाधनी सदा भीतो दुःखी बहुकुटुम्बवान् ।
आशाग्रस्तः सदा दीनः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०१ ॥
निर्भयः को भवेल्लोके निर्दुःखश्चापि को भवेत् ।
अदीनः सर्वदा कः स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०२ ॥

सुनो हे ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा और दृश्य की सही पहचान ही विचार है। दृश्य में राग नहीं रखना ही विरक्ति या वैराग्य है। दृश्य में दुःखात्मक बुद्धि का होना ही दोषदृष्टि है ॥ ९५ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि ये सब होंगे कैसे ? और तुमने जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे भी कैसे मिलेंगे, उसका भी मूल कारण क्या है ? ॥ ९६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! सुनो ये सब भगवान् की कृपा से होते हैं और भगवान् की कृपा तो उनकी भक्ति से होती है। भक्ति सत्संग से होती है ॥ ९६ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, भगवान् किसे कहते हैं ? भक्ति क्या है ? सन्त किसे कहा जाता है ? ॥ ९८ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! संसार को धारण करनेवाला जो है वही तो भगवान् है। उनमें मन को लीन कर देना उनकी भक्ति है। शान्त और दयालु पुरुष सन्त है ॥ ९९ ॥

राजकुमार ! यह भी बतला दो, दुनिया में हमेशा कौन डरता रहता है ? कौन दुःख में डूबा रहता है ? और कौन दीनता में डूबा रहता है ? ॥ १०० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! धन की अधिकता के कारण लोग हमेशा डरते रहते हैं। अधिक परिवार वाला आदमी दुःखी रहता है। आशा में फँसा आदमी दीन बना रहता है ॥ १०१ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ, दुनिया में निडर कौन हो सकता है ? बिना दुःख के कौन है ? हमेशा दीनताशून्य कौन है ? ॥ १०२ ॥

निर्भयः सङ्गरहितो निर्दुःखो जितमानसः ।
ज्ञातज्ञेयस्त्वदीनात्मा शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ।। १०३ ।।
दुर्लक्ष्यः स्यात् को हि लोके विदेहो दृश्यते च कः ।
निष्क्रियस्य क्रिया का स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ।। १०४ ।।
जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो विदेहो देहवानपि ।
तत्क्रिया निष्क्रयस्योक्ता शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ।। १०५ ।।
किमस्ति किं नास्ति लोके कोऽत्यन्तासम्भवी भवेत् ।
एतावदुक्त्वा नृपते मोचय द्रुतमग्रजम् ।। १०६ ।।
दृगस्ति नास्ति वै दृश्यं व्यवहारो ह्यसम्भवी ।
उक्तमेतद्ब्रह्मरक्षो मुञ्च मद्भ्रातरं द्रुतम् ।। १०७ ।।
श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टो मुमोच ब्रह्मराक्षसः ।
रुक्माङ्गदं ततः पश्चादभवद्ब्राह्मणो हि सः ।। १०८ ।।
तेजस्विनं तपोमूर्त्ति दृष्ट्वा ब्राह्मणरूपिणम् ।
पप्रच्छतू राजसुतौ को भवानिति शङ्कितौ ।। १०९ ।।

हे ब्रह्मराक्षस ! सुनो, जिसे किसी में कोई अनुरक्ति नहीं है, वह हमेशा निडर रहता है । मन पर जिसका अधिकार है वह सदैव सुखी रहता है और जानने योग्य वस्तु को जिसने जान लिया है उसमें दीनता नहीं रहती ।। १०३ ।।

राजकुमार ! तो फिर यह भी बतला दो कि संसार में बड़ी कठिनाई से जिसे पहचाना जाय वह कौन है ? देह के बिना भी कौन दिखलायी देता है ? जिसमें कोई क्रिया न हो उसकी क्रिया क्या है ? ।। १०४ ।।

सुनो ब्रह्मराक्षस ! जो जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन से छूट गया हो, ऐसे वीतराग की पहचान बड़ी कठिन है । वही देही होकर भी विदेह है और उसकी क्रिया को ही निष्क्रियकी क्रिया कहते हैं ।। १०५ ।।

संसार में कौन-सी वस्तु है और कौन-सी नहीं है ? तथा बिलकुल असम्भव क्या है ? राजन् ! बस, इतना बतला देने पर मैं तुम्हारे भाई को तुरन्त ही छोड़ दूँगा ।। १०६ ।।

ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा चेतन है और दृश्य नहीं है तथा व्यवहार असम्भव है । इस तरह मैंने तुम्हारे इस सवाल का भी जवाब दे दिया । अब तुम मेरे भाई को जल्द छोड़ दो ।। १०७ ।।

यह सब सुनकर ब्रह्मराक्षस बड़ा खुश हुआ और उसने रुक्मांगद को छोड़ दिया । इसके बाद वह भी ब्रह्मराक्षस से ब्राह्मण बन गया ।। १०८ ।।

उस ब्रह्मराक्षस को एक तेजस्वी तपःपूत ब्राह्मण के रूप में देखकर राजकुमारों ने सशंक होकर पूछा—आप कौन हैं ? ।। १०९ ।।

अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्यः स्ववृत्तं वै यथातथम् ।
अहं पुरा ब्राह्मणस्तु मगधेष्वभिविश्रुतः ॥ ११० ॥
वसुमानिति विख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ।
सभासु निर्जिता भूयो मया विद्याभिमानिना ॥ १११ ॥
विद्वांसः शतशो विप्रास्ततोऽत्यन्तसुगर्वितः ।
कदाचिन्मगधेशस्य सभायामष्टकं मुनिम् ॥ ११२ ॥
परावरज्ञं संशान्तं वादार्थी सङ्गतोऽभवम् ।
शुष्कतर्कैकनिपुण आत्मविद्याविचारणे ॥ ११३ ॥
ततो मया स आक्षिप्तः केवलं तर्कयुक्तिभिः ।
समाधानवचस्तस्य ब्रह्मागमसुबृंहितम् ॥ ११४ ॥
दूषयित्वा तर्कजालैरधिक्षेपपरोऽभवम् ।
अधिक्षिप्तोऽपि बहुधा मया राजसभागतः ॥ ११५ ॥
शान्तस्तूष्णीं बभूवाथ शिष्यस्तस्य महात्मनः ।
काश्यपो मां क्रोधवशाच्छशाप नृपसंसदि ॥ ११६ ॥
आचार्यं मेऽधिक्षिपसि त्वमस्थाने द्विजाधम ।
यतस्तस्माच्चिरं कालं ब्रह्मरक्षो भविष्यसि ॥ ११७ ॥
शप्त एवमहं तेन भीतोऽत्यन्तं तदा मुनिम् ।
वेपमानः प्रणम्याशु चाष्टकं शरणं गतः ॥ ११८ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने जस-के-तस अपनी कहानी सुना दी। मगध देश में पहले मैं एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण था ॥ ११० ॥

मेरा नाम वसुमान था। मैं सकल शास्त्रों में प्रवीण था। विद्या का मुझे बड़ा अभिमान था। सभा में मैंने सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मणों को पराजित किया था। इससे मैं काफी घमंडी हो गया था ॥ १११½ ॥

किसी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए मैं सदैव उत्सुक बना रहता था। मैं शुष्क तर्क करने में बड़ा निपुण था। मगधनरेश की सभा में एक बार मेरा शास्त्रार्थ अष्टक मुनि के साथ हुआ। विचारणीय विषय था—'आत्मविद्या'। मुनिजी परमार्थ-तत्त्ववेत्ता और बड़े ही शान्तचित्त थे ॥ ११२–११३ ॥

शुष्क तर्क के सहारे बहुत देर तक मैं उनके मत का खण्डन करता रहा। उनके शास्त्रसम्मत सप्रमाण कथन को मैं शुष्क तर्क से बार-बार काटता रहा ॥ ११४½ ॥

उस राजसभा में मैं लगातार उन पर दोषारोपण करता रहा, फिर भी वे शान्त होकर चुप लगा गये। पर उनके शिष्य काश्यप से मेरी यह ज्यादती बर्दाश्त नहीं हुई। उन्होंने मुझे श्राप दे दिया ॥ ११५–११६ ॥

अरे नीच ब्राह्मण ! तुमने बेवजह ही मेरे गुरु का अपमान किया है। अतः तुम बहुत दिनों तक ब्रह्मराक्षस बनकर रहो ॥ ११७ ॥

मयि सोऽथ दयाञ्चक्रे विरोधिन्यपि शान्तधीः ।
शापस्यान्तं ददौ मह्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११९ ॥
प्रश्नांस्त्वयापि हि कृतान् प्रत्युक्तांश्च मया हि तान् ।
स्थापितान् केवलैस्तर्कैर्यदैकः प्रतिवक्ष्यति ॥ १२० ॥
कश्चिद्विद्वांस्तदा शापाद्विमुक्तस्त्वं भविष्यसि ।
तच्छापादथ ते मुक्तश्चिराय नृपनन्दन ॥ १२१ ॥
तत्त्वां मन्ये महात्मानं ज्ञातज्ञेयं नृपूत्तमम् ।
इत्युक्तस्तेन विप्रेण विस्मितोऽभून्नृपात्मजः ॥ १२२ ॥
ततो भूयो नृपसुतोऽनुयुक्तस्तेन सर्वशः ।
वसुमन्तं बोधयित्वा सम्यक् प्रागात् पुरं स्वकम् ॥ १२३ ॥
प्रणम्य वसुमन्तं तं सहितो भ्रातृसैनिकैः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं भार्गव त्वया ॥ १२४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे राक्षसोपाख्यानं एकविंशोऽध्यायः ।

उसका दारुण श्राप सुनकर मैं बुरी तरह डर गया । कोई दूसरा चारा न देखकर थर-थर काँपते हुए अष्टक मुनि को ही प्रणाम कर उनकी शरण में चला गया ॥११८॥

मुनि शान्तचित्त थे । मैंने उनका विरोध किया था, फिर भी उन्होंने मुझ पर दया की । उन्होंने उस श्राप का अन्त कैसे किया, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥११९॥

तुमने मुझसे प्रश्न किया, जिसका मैंने उचित समाधान कर दिया । फिर भी तुमने अपने शुष्क तर्क से इन प्रश्नों को खड़ा रखा है । अतः यदि कोई एक ही विद्वान् तुम्हारे इन तर्कों का समाधान कर देगा; तब तुम श्रापमुक्त हो जाओगे ॥ १२०½ ॥

राजकुमार ! बहुत समय बीत जाने के बाद तुमने मुझे उस श्राप से मुक्त कराया है । अतः मैं तुम्हें महात्मा, ज्ञात और ज्ञेय समझता हूँ । राजाओं में तुम सर्वश्रेष्ठ राजा हो ॥ १२१–१२२ ॥

उस ब्राह्मण की बातें सुनकर राजकुमार को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । उस वसुमान् नामक ब्राह्मण ने राजकुमार से फिर अनेक प्रश्न पूछे । राजकुमार ने सभी प्रश्नों का सही समाधान कर दिया । फिर उस वसुमान् ब्राह्मण को प्रणाम कर अपने भाई और सैनिकों के साथ राजधानी लौट गया । परशुराम ! तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर मैंने दे दिया ॥ १२३–१२४ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वाविंशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं राक्षसकथां रामो भृगुकुलोद्भवः ।
पुनः पप्रच्छावधूतकुलेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ १ ॥
भगवन् किं तेन पृष्टं शापमुक्तद्विजेन वै ।
हेमाङ्गदेन किं प्रोक्तमेतन्मे कृपया वद ॥ २ ॥
कौतुक्यत्यन्तमत्राहं न तदल्पं भवेत् क्वचित् ।
इति पृष्टः पुनः प्राह दत्तात्रेयो दयापरः ॥ ३ ॥
राम तत्ते प्रवक्ष्यामि महार्थं तत् प्रभाषितम् ।
ततः पप्रच्छ वसुमान् हेमाङ्गदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
राजपुत्र किञ्चिदहं पृच्छामि त्वं समीरय ।
अहमष्टकयोगीशात् तदज्ञासिषमादितः ॥ ५ ॥
भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग् विदितं परमं पदम् ।
किन्तु ते ज्ञाततत्त्वस्य कथं स्थितिरियं भवेत् ॥ ६ ॥
कथं ज्ञातसुविज्ञेयो व्यवहारपरायणः ।
ध्वान्तप्रकाशयोर्यद्वत् स्थितिरेकत्र सम्भवेत् ॥ ७ ॥

(वसुमान् का समाधान एवं ग्रन्थ का सारांश)

इस तरह ब्रह्मराक्षस की कहानी सुनकर भृगुवंश में उत्पन्न परशुराम ने विनयावनत हो अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजी से पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! शापमुक्त उस ब्राह्मण ने क्या पूछा था ? और हेमाङ्गद ने उसका उत्तर क्या दिया ? कृपया मुझे बतलायें ॥ २ ॥

इसके बारे में मुझे काफी कुतूहल है । यह कभी कोई छोटी बात नहीं हो सकती । यह सुनकर दयालु दत्तात्रेय ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ३ ॥

परशुराम ! यह संवाद गम्भीर अर्थ से भरा है, जो मैं तुम्हें सुनाता हूँ । समीप में बैठे हेमाङ्गद से वसुमान् ने पूछा ? ॥ ४ ॥

राजकुमार ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । कृपया आप स्पष्ट बतलायें । शुरु में मैंने योगिराज अष्टक से यह तत्त्व सुना था ॥ ५ ॥

अब आपके मुँह से उस परमपद की बातें सुनकर अच्छी तरह उसका ज्ञान मुझे हो गया । परन्तु आप तो तत्त्वज्ञ हैं; आपकी स्थिति ऐसी क्यों है ? ॥ ६ ॥

जिसने जानने योग्य वस्तु की जानकारी हासिल कर ली है, वह फिर दुनियादारी में कैसे लगा रह सकता है ? यह तो अन्धकार और प्रकाश के एक साथ रहने जैसी बात ही होगी ॥ ७ ॥

एतन्मे राजतनय ब्रूहि सम्यग् यथास्थितम् ।
इत्यापृष्टः प्राह हेमाङ्गदस्तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि न सम्यक् प्रविनाशिता ।
व्यवहारेण किं ज्ञानं बाध्यते स्वात्मसम्भवम् ॥ ९ ॥
व्यवहारवशाज्ज्ञानं बाध्यते च ततः कथम् ।
पुरुषार्थस्य लाभः स्यात् स्वप्नज्ञानसमेन वै ॥ १० ॥
सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं ज्ञानमाश्रित्य सम्भवेत् ।
तज्ज्ञानं बाध्यते तेन कथं तन्मे समीरय ॥ ११ ॥
ज्ञानं तदेव हि भवेद् यत्रेदं भासते जगत् ।
सङ्कल्पाद् व्यवहारो हि ज्ञाने सर्वं प्रकाशते ॥ १२ ॥
असङ्कल्पेन तद्रूपमनुलक्ष्य धिया सकृत् ।
कृतार्थो बन्धनिर्मुक्तो भवतीति सुनिश्चयः ॥ १३ ॥
तस्माद् ब्रह्मन्न ते प्रश्नः सम्मतोऽयं सुबुद्धिभिः ।
पुनस्तं प्राह वसुमान् नृपसूनुं महाशयम् ॥ १४ ॥
सत्यं राजकुमारैतन्मयापीत्थं सुनिश्चितम् ।
स्वरूपं निर्विकल्पं हि संवेदनमिहोच्यते ॥ १५ ॥
सविकल्पत्वमापन्ने पुनर्भ्रान्तिः कुतो न हि ।
विकल्प एव हि भ्रान्तिर्यथा रज्जौ भुजङ्गमः ॥ १६ ॥

राजकुमार ! इसका जो कुछ भी कारण हो वह मुझे हू-ब-हू समझा दें। ऐसा पूछने पर हेमाङ्गद ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से कहा ॥ ८ ॥

ब्राह्मणदेवता ! आपका भ्रम अभी भी नहीं गया है। अपनी आत्मा के रूप में रहनेवाला ज्ञान भला व्यवहार से बाधित हो सकता है ? ॥ ९ ॥

यदि किसी व्यवहार से ज्ञान बाधित हो जाय, तो सपने के ज्ञान और जाग्रत् ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाय ॥ १० ॥

ये सारे-के-सारे व्यवहार तो ज्ञान के सहारे ही होते हैं। फिर उसी से यह बाधित कैसे हो जायेगा ॥ ११ ॥

जिसमें सारी दुनिया दीख रही है, वही तो ज्ञान है। सिर्फ संकल्प से ज्ञान में ही तो सारे व्यवहार के दर्शन होते हैं ॥ १२ ॥

हाँ ! यह बात बिलकुल निश्चित है; कामनाशून्य होकर एक बार उस आत्मा के स्वरूप को लख लेने पर जीव बन्धनमुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥ १३ ॥

अतः हे ब्राह्मणदेवता ! 'बुद्धिमानों को आपका यह प्रश्न मान्य नहीं है।' तब वसुमान् ने उदारमना राजकुमार से पुनः पूछा ॥ १४ ॥

राजकुमार ! यह बात ठीक है और मैंने भी ऐसा ही निश्चय किया है। शुद्ध-चित्ति ही अपना निर्विकल्प स्वरूप कहा गया है। यही यथार्थ भी है ॥ १५ ॥

शृणु ब्रह्मन् न जानासि भ्रमाभ्रमविनिर्णयम् ।
गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ॥ १७ ॥
व्यवहारं च कुर्वन्ति नीलं नभ इति क्वचित् ।
तावतैव तु तज्ज्ञानं न भ्रान्तिरभिधीयते ॥ १८ ॥
अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्तिस्तत्त्वज्ञ सा प्रमैव हि ।
हतप्रामाण्यजीवं तज्ज्ञानं मृतमहाहिवत् ॥ १९ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बस्य व्यवहारसमो भवेत् ।
अभिज्ञस्यानभिज्ञस्य चाप्यतोऽस्ति भिदा तयोः ॥ २० ॥
ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञानमज्ञस्य तु भ्रमात्मकम् ।
ज्ञानिनां ज्ञानमेव स्यात् सर्वोऽपि व्यवहारकः ॥ २१ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बानां व्यवहारेण सम्मितः ।
अभिज्ञानामतो भूयो न हि भ्रान्तेः समुद्भवः ॥ २२ ॥
केवलाज्ञानजनितं ज्ञानेन विनिवर्त्तते ।
दोषेण जनितं कस्माद्विलीयेज्ज्ञानमात्रतः ॥ २३ ॥
अत एव तैमिरिकः पश्येज्जानन्नपि द्वयम् ।
जगदाभास एषस्तु कर्मदोषसमुद्भवः ॥ २४ ॥

किन्तु ! वह यदि सविकल्प हो जाय तो फिर भूल क्यों न होगी ? जैसे डोरी में कभी-कभी साँप का भ्रम हो जाता है, उसी तरह 'विकल्प' तो भ्रान्ति का स्वरूप है ही ॥ १६ ॥

सुनो ब्रह्मन् ! सच तो यह है कि भ्रम और निर्भ्रम के बीच आप ठीक से भेद भी नहीं कर पा रहे हैं । जो लोग आकाश को जानते हैं, उन्हें भी तो उसकी नीलिमा दिखलायी ही देती है । आकाश नीला है—ऐसा कहकर उन्हें व्यवहार करते भी देखा जाता है । किन्तु इतने से ही उनके ज्ञान को भ्रम तो नहीं कहा जा सकता ।।१७–१८।।

अज्ञानी में आकाश की नीलिमा का ज्ञान भ्रान्ति ही है, किन्तु ज्ञानियों में तो ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही है । उनका यह ज्ञान प्रामाण्य रूप जीवन से रहित होने के कारण मरे हुए साँप की तरह किसी अनर्थ का कारण नहीं बनता ।। १९ ।।

ज्ञानियों का कामकाज आईने में परछाईं की हलचल की तरह होता है । अतः ज्ञानी और अज्ञानियों के कार्य-कलापों में भेद तो है ही ।। २० ।।

ज्ञानियों का व्यावहारिक ज्ञान तो यथार्थ है । परन्तु अज्ञानियों का ज्ञान भ्रम है । ज्ञानियों के लिए सारा व्यवहार भी तो ज्ञानस्वरूप ही है ।। २१ ।।

उनके लिए यह ज्ञान आईने में परछाईं की तरह व्यावहारिक होता है । यही कारण है कि ज्ञानियों को फिर भ्रान्ति नहीं होती ।। २२ ।।

केवल अज्ञान से उत्पन्न का ही विनाश ज्ञान से होता है । किन्तु जिनकी उत्पत्ति किसी अन्य दोष के कारण हुई हो, वह केवल ज्ञान से नहीं नष्ट हो सकते ।। २३ ॥

तस्मादाकर्मविलयं व्यवहारो न लीयते ।
समाप्ते कर्मणि ततः शिष्येदद्वयचिन्मयम् ॥ २५ ॥
तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं कदापि भ्रान्तिसम्भवः ।
इति श्रुत्वा पुनर्विप्रः पप्रच्छ नृपनन्दनम् ॥ २६ ॥
अहो नृपात्मज कथं ज्ञानिनां कर्म सम्भवेत् ।
ज्ञानाग्निसंस्पर्शनेऽपि कर्मतूलः कथं स्थितः ॥ २७ ॥
अथाह हेमाङ्गदोऽपि विप्रं तं नृपनन्दन ।
ब्रह्मन् शृणु प्रवक्ष्यामि त्रिविधं कर्म ज्ञानिनाम् ॥ २८ ॥
सर्वेषाञ्च समानं स्यादपक्वं पक्वमेव च ।
हतोदितं चेति तत्र नश्येज्ज्ञानादमध्यमम् ॥ २९ ॥
कर्मणा पाचकः कालो नियत्या नियतः स्थितः ।
कालेन पाचितप्रायं पक्वं कर्म समीरितम् ॥ ३० ॥
अपाचितमपक्वं स्याज्ज्ञानोत्पत्तेरनन्तरम् ।
कृतं हतोदितं विद्धि ज्ञानाद्धतसमुद्भवात् ॥ ३१ ॥
तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते ।
आवेगं मुक्तशरवत् तिष्ठत्येव फलप्रदम् ॥ ३२ ॥

यही वजह है कि रतौंधी से पीड़ित आदमी यह जानते हुए कि वस्तु एक है उसे दो रूप में देखता है । इस दुनिया में असल की झलक तो कर्मदोष से पैदा हुई है । इसलिए जब तक कृतकर्म से उत्पन्न भाग्य का क्षय नहीं हो जाता, तब तक इस व्यवहार का विलय नहीं होता । प्रारब्ध कर्म के विनष्ट होते ही केवल चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ २४–२५ ॥

इसलिए इस विशिष्ट ज्ञान में भूल की सम्भावना कभी हो नहीं सकती । ऐसा सुनकर उस ब्राह्मण ने राजकुमार से पूछा ॥ २६ ॥

हे राजकुमार ! ज्ञानियों से भला कर्म की सम्भावना कैसे हो सकती है ? ज्ञान रूपी आग के छू लेने पर कर्मरूपी कपास बिन जले कैसे रह सकती है ? ॥ २७ ॥

राजकुमार हेमाङ्गद बोला—सुनो ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें बतलाता हूँ—सभी ज्ञानियों के कर्म समान रूप से तीन तरह के होते हैं—अपक्व, पक्व और हतोदित । इनमें बीच के पक्व को छोड़कर शेष दो स्वतः विनष्ट हो जाते हैं ॥ २८–२९ ॥

नियति ने काल को कर्मों को पकाने वाला नियुक्त किया है । जो कर्म काल के द्वारा प्रायः पकाकर फलोन्मुख कर दिये जाते हैं, वे 'पक्व' कर्म कहे गये हैं ॥ ३० ॥

जो परिपक्व नहीं हुए हैं, वे अपक्व हैं और जो कर्म ज्ञानोत्पत्ति के बाद किये जाते हैं, उन्हें हतोदित समझो, क्योंकि वे ज्ञान से हत अर्थात् मरे हुए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

तन्मूलको जगद्भासो ज्ञानस्य तारतम्यत: ।
स्थितोऽपि भ्रान्तितुल्योपि न भ्रान्ति: फलभेदत: ॥ ३३ ॥
जनयेत्तत्कालफलं मन्दज्ञानवतां स्फुटम् ।
मध्यानामस्फुटं तच्च ज्ञानिनां फलभासनम् ॥ ३४ ॥
उत्तमानान्तु तत्कालफलञ्च स्पष्टभासनम् ।
शशशृङ्गसमं ब्रह्मन् न हि तत्फलमुच्यते ॥ ३५ ॥
अज्ञानिनां कर्मफलं पुष्टं पूर्णानुसन्धित: ।
पूर्वापरानुसन्धानात् पोषितं तत्फलन्तु तै: ॥ ३६ ॥
ज्ञानिनां फलसन्धानं छिन्नमात्मानुसन्धित: ।
अतो न पुष्टं मन्दानामारब्धजनितं फलम् ॥ ३७ ॥
मध्यानां ज्ञानिनां तच्च फलं मन्दसुषुप्तिषु ।
मशकादिकृतं दु:खमिव तत् सूक्ष्मतां गतम् ॥ ३८ ॥
उत्तमज्ञानिनां तत्तु फलं पूर्णमपि स्थितम् ।
दग्धरज्जुरिव भवेत् स्थितात्मज्ञानवैभवात् ॥ ३९ ॥

इनमें जो परिपक्व कर्म हैं वे प्रारब्ध अर्थात् नियति या भाग्य कहलाते हैं । वे धनुष से छूटे हुए तीर की तरह अपना वेग रहने तक फल देते ही रहते हैं ॥ ३२ ॥

ज्ञान की कमी-बेशी के मुताबिक उन्हीं की वजह से दुनिया की प्रतीति बनी रहती है । यह संसार की प्रतीति भ्रान्ति की तरह होने के बावजूद फल में भेद रहने के कारण भ्रान्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

मन्द ज्ञानियों को यह प्रारब्ध उसी क्षण फल देता है और मध्यम ज्ञानियों को उस फल का बोध स्पष्ट मालूम पड़ता है ॥ ३४ ॥

उत्तम ज्ञानियों को फल की जानकारी तो उसी समय हो जाती है । किन्तु हे ब्रह्मन् ! उनकी दृष्टि में वह खरहे के सींग की तरह सफेद झूठ होने के कारण उसे फल नहीं मानते ॥ ३५ ॥

अज्ञानियों को कर्मफल का अनुशीलन पहले से ही बना रहता है । इसलिए वह तैयार या मजबूत होता है । आगे-पीछे का अनुशीलन रहने के कारण वे उस फल को बढ़ाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा की खोज में लगे रहते हैं । फलत: बीच-बीच में उनके कर्मफल की जाँच पड़ताल का क्रम टूटता रहता है । इसीलिए मन्द ज्ञानियों का भाग्यफल मजबूत नहीं होता ॥ ३७ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानियों के लिए तो वह फल हलकी नींद में मच्छर काटने से होनेवाले दु:ख की तरह बहुत कम तकलीफदेह होता है ॥ ३८ ॥

उत्तम ज्ञानियों को यह कर्मफल पूरी तरह प्राप्त होने पर भी दृढ़ आत्मज्ञान की वजह से जली हुई रस्सी की तरह केवल प्रतीति मात्र रहती है ॥ ३९ ॥

यथा नाटकवृत्तेषु नरो वेषान्तरं गतः ।
हृष्यन् विषीदंश्च भूयो नान्तः विकृतिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
एवमेष स्थितज्ञानी सुपूर्णफलसङ्गतः ।
न फलैः स्पृश्यते तस्मात्तत्फलं शशशृङ्गवत् ॥ ४१ ॥
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा नोपलक्षित एव हि ।
अतो देहात्मभूतास्ते दृश्यसत्त्वविमर्शनाः ॥ ४२ ॥
मन्दज्ञानिभिरात्मा तु विदितः शुद्धचिन्मयः ।
जगच्चासत्यतो दृष्टं तथाप्यभ्यासमान्द्यतः ॥ ४३ ॥
प्राग्वासनाहृतज्ञानास्ते देहात्मप्रभासनम् ।
जगतः सत्यताभासं मध्ये मध्ये समाययुः ॥ ४४ ॥
भूयो ज्ञानवासना या विधुन्वन्त्यसतीं दृशम् ।
वासनैवं सत्यमिथ्याज्ञानयोश्च परस्परम् ॥ ४५ ॥
मिलिता मन्दज्ञानिनामतो मध्ये फलं स्फुटम् ।
समेऽपि वासने चैते न हि तुल्ये महीसुर ॥ ४६ ॥
सत्यज्ञानवासनया बाध्यते वासना परा ।
न च मिथ्या वासनया बाध्यते सत्यवासना ॥ ४७ ॥

जैसे एक अभिनेता मंच पर अनेक वेश बनाकर हर्ष और शोक की भूमिका निभाने के बावजूद भीतर से इस अभिनय के प्रभाव से मुक्त रहता है, उसी तरह एक निष्ठावान् ज्ञानी पूरा-का-पूरा फल पाने पर भी उसमें लीन नहीं होता। इसलिए उसका यह फलभोग भी खरहे के सींग की तरह केवल कहने भर ही होता है ॥ ४०-४१ ॥

अज्ञानियों को तो विशुद्ध आत्मा का पता ही नहीं चलता, इसलिए वे तो देह को ही आत्मा मानते हैं और दृश्य पदार्थ को सच समझते हैं ॥ ४२ ॥

मन्दज्ञानियों को तो शुद्ध चिन्मय आत्मा का ज्ञान होता है और दुनिया भी उसे झूठी दिखलायी देती है। फिर भी अभ्यास की कमी के कारण पहले की वासना से उनका ज्ञान दब जाता है और देह को ही वे आत्मा के रूप में देखने लगते हैं। बीच-बीच में उन्हें संसार की सत्यता का भी बोध होता रहता है ॥ ४३-४४ ॥

किन्तु उनके ज्ञानजन्य संस्कार उनकी इस झूठी परख को दूर कर देते हैं। इस तरह उनके सच और झूठ का ज्ञान आपस में मिलकर बीच-बीच में साफ ढंग से फल का भोग कराते हैं ॥ ४५-४६ ॥

हे धरती के देवता! यद्यपि ये दोनों ही संस्कार समान रूप से आते-जाते रहते हैं, फिर भी इनका प्रभाव एक जैसा नहीं रहता। ज्ञान की वासना सच है, अतः उससे दृश्य की मिथ्या वासना जैसे बाधित होती है, उसी तरह मिथ्या वासना से सत्य की वासना बाधित नहीं होती ॥ ४६-४७ ॥

मिथ्यावासनयाविष्टो विस्मृतः केवलां पर: ।
ततो मिथ्यावासनां तु विनिश्चित्य भ्रमात्मिकाम् ॥ ४८ ॥
विधूय वासनां सत्यामुपैति ब्राह्मणोत्तम ।
ततो न बाधिता सत्यवासना भवति क्वचित् ॥ ४९ ॥
मध्यमस्य विस्मृतिर्नो न मिथ्या ज्ञानमेव च ।
अविस्मृतस्येच्छयैव मिथ्याज्ञानं क्वचिद्भवेत् ॥ ५० ॥
सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता साधकस्योच्यते शृणु ।
यथा यथा तत्परः स्यात्तथाऽविस्मृतिरुच्छ्रिता ॥ ५१ ॥
पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति मिथ्याज्ञानं प्रयत्नतः ।
उत्तमस्य पुनर्ब्रह्मन् समाधिव्यवहारयोः ॥ ५२ ॥
न भेदो लेशतोऽप्यस्ति यतोऽविस्मरणं सदा ।
यः समाधिपरो मध्यस्तस्य याऽविस्मृतिः स्थिता ॥ ५३ ॥
सैषा म्लाना भवेन्मिथ्याज्ञानभूमिषु भूसुर ।
यस्तूत्तमोऽपि स्वाच्छन्द्यात्प्रारब्धवशतोऽपि वा ॥ ५४ ॥
समाध्यतत्परो भूयात्तस्याम्लानैव चास्मृतिः ।
वस्तुतः शृणु भूदेव मध्यमोत्तमज्ञानिनाम् ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! यह मिथ्या वासना के अधीन होकर शुद्ध वासना को भूल जाता है। फिर उस मिथ्या वासना को भ्रम मानकर उसे छोड़ देता है और सत्य रूप ज्ञान-वासना को पा लेता है। इसके बाद उसकी यह सत्य वासना कभी बाधित नहीं होती ॥ ४८–४९ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानी को सत्य वासना कभी भुलाती नहीं और मिथ्या ज्ञान होता ही नहीं। वे सत्य वासना को बिना भुलाये ही कभी-कभी अपनी इच्छा से व्यवहार के उपयुक्त मिथ्या ज्ञान भी कुबूल कर लेते हैं ॥ ५० ॥

औसत दर्जे के सिद्ध ज्ञानी की ही यह स्थिति होती है। अब मैं तुम्हें साधक की स्थिति के बारे में समझाता हूँ, सुनो—साधक जैसे-जैसे अपनी आत्मा की खोज में लगता है उसी अनुपात में उसे अपने असली स्वरूप की याद बढ़ती जाती है। साधना पूरी होने पर तो अपने वास्तविक स्वरूप को वह कभी भुला ही नहीं पाता और मिथ्या द्वैत का स्फुरण तो काफी प्रयास के बाद ही होता है ॥ ५१½ ॥

अपने स्वरूप की याद हमेशा बनी रहने के कारण उत्तम ज्ञानी को समाधि और व्यवहार में कोई अन्तर नही होता ॥ ५२½ ॥

समाधि में लीन मध्यम ज्ञानी को ही अपने स्वरूप की पहचान में थोड़ी भूल होती है। वह मिथ्या अज्ञान की स्थिति आने पर ही कुछ मन्द पड़ जाती है। किन्तु जो उत्तम ज्ञानी है वे अपनी इच्छा से अथवा भाग्य के अधीन होने पर ही यदि वे समाधि में लीन न रहें तो उसे अपने स्वरूप की पहचान में भूल नहीं होती ॥५३-५४½॥

कर्म नैवास्ति यत्किञ्चिद्यतस्ते पूर्णतां गताः ।
संविदात्मातिरिक्तं यत्र ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना ।
भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
ऐन्द्रजालिककर्मेव त्वितरैरेव दृश्यते ।
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समासतः ॥ ५८ ॥
शिवस्य यादृशी सैव ज्ञानिनां दृष्टिरुच्यते ।
नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५९ ॥
तस्मान्न किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिनामनुवर्त्तते ।
इति श्रुत्वा स वसुमान् हेमाङ्गदनिरूपितम् ॥ ६० ॥
सर्वसन्देहनिर्मुक्तो विज्ञानविशदाशयः ।
पूजितौ राजपुत्राभ्यां संस्थानं प्रत्यपद्यत ॥ ६१ ॥
प्राप्तौ स्वनगरं राजपुत्रावपि ततः परम् ।
एवं श्रुत्वा पुना रामः पप्रच्छात्रिसुतं मुनिम् ॥ ६२ ॥
श्रुतमेतद्धि विज्ञानं गुरो त्वन्मुखनिर्गतम् ।
विनष्टो मम सन्देहो विदितं तन्महत् पदम् ॥ ६३ ॥
सर्वानुस्यूतसंवित्तिमात्रसत्ता भाति सर्वतः ।

सुनो ब्रह्मवेत्ता ! दरअसल उत्तम और मध्यम कोटि के ज्ञानियों के कुछ भी कर्म है ही नहीं । क्योंकि उन्हें तो पूर्णता मिल जाती है । एक चिदात्मा के सिवा और कुछ वे देखते ही नहीं ॥ ५५–५६ ॥

उनका कोई भी कर्म बचा नहीं रह सकता है, क्योंकि उनके समस्त कर्म चेतनअग्नि में जलकर राख हो जाते हैं । अतः उनका कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५७ ॥

बाजीगर के हाथ की सफाई की तरह उनके सभी काम दूसरों को ही दिखलाई देते हैं । इसमें जो गूढ़ रहस्य छिपा है, संक्षेप में मैं तुम्हें समझा देता हूँ ॥ ५८ ॥

भगवान् शिव की दृष्टि की तरह ज्ञानियों की दृष्टि भी होती है । इसमें थोड़ी भी संदेह की गुंजाईश नहीं है । उक्त कथन में कोई अन्तर नहीं है, अतः ज्ञानियों का कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५९½ ॥

वसुमान का सारा संदेह हेमाङ्गद का तत्त्व-विज्ञान सुनकर दूर हो गया । उसका अन्तःकरण इस विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश से प्रदीप्त हो गया । फिर राजकुमारों से सम्मानित होकर वह अपनी जगह लौट गया ॥ ६०–६१ ॥

इसके बाद वे दोनों राजकुमार अपनी राजधानी लौट आये । सारी बातें सुनकर परशुराम ने गुरु दत्तात्रेय से पुनः पूछा ॥ ६२ ॥

हे गुरुदेव ! आपके मुखकमल से निकले ज्ञानोपदेश को मैंने सावधान होकर सुना । जिससे मेरा सारा सन्देह मिट गया । मुझे उस परमपद की जानकारी मिल गई ॥ ६३ ॥

तथापि भवता प्रोक्तमादितः सर्वमेव तु ॥ ६४ ॥
सङ्क्षेपेण पुनर्ब्रूहि विज्ञानं सारवत्तरम् ।
यावद्धारयितव्यं मे गुरो सर्वात्मना मया ॥ ६५ ॥
इत्यापृष्टः स रामेण पुनः प्राहात्रिनन्दनः ।
शृणु राम प्रवक्ष्यामि सर्वसारतमं पुनः ॥ ६६ ॥
या चितिः परमेशानी पूर्णाहन्तामयी परा ।
सा स्वातन्त्र्याभिधामायाशक्तिमाहात्म्यतः सदा ॥ ६७ ॥
जगदाभासयेन्नूनं दुर्घटैकविधायिनी ।
प्रतिबिम्बवदादर्शे तत्प्रकारं शृणु क्रमात् ॥ ६८ ॥
या सा पराचितिः पूर्णापूर्णाहम्भावबृंहिता ।
स्वातन्त्र्यवशतः स्वात्मरूपं द्वेधावभासयत् ॥ ६९ ॥
तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो पूर्ण आभासितो यदा ।
तदा द्वितीयभागस्तदहम्भावविनिर्गतः ॥ ७० ॥
बाह्यमव्यक्तमभवत्तद्दृष्टयैव भृगूद्वह ।
अपूर्णाहम्भावयुत एष प्रोक्तः सदाशिवः ॥ ७१ ॥
स तमव्यक्तभागन्तु पश्यन् भिन्नमपि स्वतः ।
अहमेतदित्यभेदादनुसन्धिपरः सदा ॥ ७२ ॥

सबमें घुला-मिला चिन्मात्र आत्मा ही सब ओर दीख रहा है। फिर भी गुरुदेव शुरू से अब तक आपने जो कुछ कहा, उसे संक्षेप में एक बार जितना मैं समझ सकूँ, मुझे ध्यान में रखना चाहिए—फिर समझाने का कष्ट करें ॥ ६४–६५ ॥

परशुराम की जिज्ञासा सुनकर अत्रिपुत्र दत्तात्रेय ने उन्हें फिर समझाना शुरू किया। सुनो परशुराम ! सम्पूर्ण कथन का सार मैं तुम्हें फिर समझाता हूँ ॥ ६६ ॥

जो सर्वाधिक ताकतवाली प्रसन्नता से भरी पराचिति है, वह अपनी परम स्वतंत्र मायाशक्ति की महिमा से, जो असम्भव को भी संभव कर देनेवाली है, आईने में परछाईं की तरह अपने-आप में ही सारी दुनिया को दिखला देती है। उसके जगत्-प्रकाशन का प्रकार क्रमशः सुनो ॥ ६७–६८ ॥

वह जो पराचिति है, पूरी तरह भरी है। अहंभाव के कारण सब जगह फैली है। अपनी बे-नियाज ताकत की महिमा से अपने ही स्वरूप को दो रूपों में प्रकाशित किया है ॥ ६९ ॥

जब उसके एक अंश में अहम्-भाव आभासित हुआ तो दूसरा भाग अहन्ता से शून्य जड़ अव्यक्त हो गया। परशुराम उस बाहरी अव्यक्त की दृष्टि से ही वह अपूर्ण अहन्ता युक्त अंश 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ७०–७१ ॥

यद्यपि वह उस अविदित अंश को अपने से अलग ही देखती है, फिर भी उसे हमेशा अभेदपूर्वक यही जान पड़ता है कि यह मैं ही हूँ ॥ ७२ ॥

स एव भूयः स्वातन्त्र्यात् सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
अव्यक्तमात्मनो देहमेतदेवाहमास्थितः ॥ ७३ ॥
इत्येवमनुसन्धानपर ईश्वर आबभौ ।
अव्यक्तमभिमानेनाविष्ट ईश्वर एव तु ॥ ७४ ॥
त्रिधासमभवद्रुद्रहरिद्रुहिणरूपतः ।
द्रष्टृदृश्यमहाराशिसमुदायावभासकः ॥ ७५ ॥
विधयो विविधा आसंस्तथा तद्रूपसंस्थिताः ।
बहवो हरयोऽप्यासंस्तत्संहारपरायणाः ॥ ७६ ॥
अनेकशोऽभवन् रुद्रा एवमेष जगद्विधिः ।
एवंविधं जगत्तत्त्वं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ७७ ॥
भासते केवलं राम न हि जातं तु किञ्चन ।
पराचितिः प्रपूर्णाहम्भावरूपैव सर्वदा ॥ ७८ ॥
स्थिताप्यनेका सम्पूर्णाहम्भावपरिबृंहिता ।
यथा त्वं राम सर्वस्मिन् देहेऽहम्भावबृंहितः ॥ ७९ ॥
पृथङ् नेत्राद्यहम्भावैरपि तत्तत्क्रियापरः ।
एवमेव परा संवित् पूर्णाहन्तासमाश्रया ॥ ८० ॥
सदाशिवादिस्तम्बान्ताऽपूर्णाहन्ताश्रयापि वै ।
वस्तुतः सैव परमा चितिरेवं हि भासिनी ॥ ८१ ॥

उसी को स्वतंत्रता के कारण फिर अनेक तरह की दुनिया रच डालने की इच्छा होती है और वह अप्रकट अपनी देह में 'मैं यही हूँ' ऐसी आस्था करने लगता है ॥७३॥

ऐसा परिशीलन करते रहने पर तो वह स्वयं ईश्वर हो जाता है। जो सम्माननीय भावना द्वारा अव्यक्त में समाया है, वही 'ईश्वर' है ॥ ७४ ॥

इस दृश्यवर्ग के एक बड़ी राशिरूप समूह का प्रकाशक वह द्रष्टा ही रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के रूप में तीन तरह का हो गया ॥ ७५ ॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा अनेक थे, पालक विष्णु अनेक थे और संहर्त्ता रुद्र भी अनेक थे। ऐसा ही इस संसार का नियम है ॥ ७६½ ॥

आईने में परछाई की तरह इस दुनिया का स्वरूप यही है। परशुराम ! यह केवल दीखता ही है, दरअसल है कुछ नहीं ॥ ७७½ ॥

वह भरी-पूरी पराचिति बिलकुल गौरवमयी ही है। वह स्थिरस्वरूपा होने के बावजूद सम्पूर्ण अहंभाव के कारण सब जगह फैली हुई-सी जान पड़ती है। हे परशुराम ! जैसे तुम इस देह में अहंभाव से पूरी तरह घिरे हो, फिर भी आँख, नाक आदि के अहंभावों से भी अनेक तरह के व्यापारों में लगे रहते हो ॥ ७८–७९½ ॥

इसी तरह यह पराचिति भी सम्पूर्ण 'अहन्ता' का सहारा है। फिर भी यह सदाशिव से लेकर जड़ता या असंवेद्यता तक अधूरे अहंभाव का भी सहारा है। दरअसल वह पराचिति ही इन सब रूपों में दीखने वाली है ॥ ८०–८१ ॥

देहाहम्भावरूपस्त्वं स्वतो रूपरसादिकम् ।
ग्रहीतुमसमर्थोऽपि चाक्षतादात्म्यमेत्य तु ॥ ८२ ॥
सर्वं गृह्णासि सततमेवं देवः सदाशिवः ।
स्वतः सर्वभिदमयो ब्रह्मादिस्तम्बराशिषु ॥ ८३ ॥
अतस्तादात्म्यमापन्नो जानाति च करोति च ।
यथा ते निर्विकल्पं तु रूपं सर्वाश्रयं हि सत् ॥ ८४ ॥
न किञ्चिदपि जानाति करोति च भृगूद्वह ।
एवमेव परा संवित् सर्वलोकसमाश्रया ॥ ८५ ॥
भेदलेशमपि क्वापि न जानाति करोति च ।
एतावज्जागतं सर्वं तस्यामेवावभासते ॥ ८६ ॥
तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
जगतो भासनं सर्वं तस्या एवावभासनम् ॥ ८७ ॥
यथादर्शाभास एष प्रतिबिम्बावभासनम् ।
अत्र त्वमहमन्ये च द्रष्टारो दृङ्मयाः खलु ॥ ८८ ॥
दृश्यासम्मेलने शुद्धचितिरेव न चेतरत् ।
घटादिदर्पणो यद्वद् घटादीनामसङ्गमे ॥ ८९ ॥
शुद्धदर्पणमात्रः स्याद्भिभेदः प्रतिबिम्बतः ।

तुम अपनी देह में अहंभाव से मौजूद होकर भी यद्यपि स्वयं रूप, रस प्रभृति विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो, फिर भी इन्द्रियों के साथ एकरूपता धारण कर तो सब कुछ हमेशा ग्रहण कर ही लेते हो। इसी तरह भगवान् सदाशिव ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सबके साथ अभिन्न रूप ही है। फिर भी उन ब्रह्मादि की देहों में एकरूपता पा लेने पर वे ही सब कुछ जानते भी हैं और करते भी हैं ॥ ८२-८३½ ॥

हे भार्गव ! जैसे तुम्हारा निर्विकल्पस्वरूप सबका सहारा और सत्र है। फिर भी यह न तो कुछ जानता ही है और न कुछ करता ही है। इसी तरह वह पराचिति समस्त लोकों का आधार है, फिर भी वह थोड़ा भी इस द्वैत को न तो जानती है और न कुछ करती ही है ॥ ८४-८५½ ॥

दुनिया का यह सारा जंजाल उसी में दीख रहा है, किन्तु अपनी बेनियाज ताकत से वही आईने में परछाई की तरह अनेक रूप में बँट गयी है। अतः इस दुनिया का सारा दृश्य उसी का आभास है। जैसे आईने की परछाई की प्रतीति से केवल आईने का ही आभास होता है ॥ ८६-८७½ ॥

यहाँ जो मैं और दूसरे देखने वाले हैं वे निश्चय ही चिन्मात्र हैं। यदि उनके साथ दृश्य की मिलावट न हो तो वे शुद्धचिति ही है और कुछ नहीं ॥ ८८½ ॥

जैसे घड़े की परछाई से अलग आईना घड़े का संग न रहने पर शुद्ध रूप से सिर्फ आईना ही होता है। उनका भेद तो परछाई के कारण ही है ॥ ८९½ ॥

एवं विकल्पसम्भूतदृश्याभासप्रमार्जने ॥ ९० ॥
शेषिता परमा संविदद्वितीयस्वरूपिणी ।
महानन्दघना चैषा दुःखलेशविवर्जनात् ॥ ९१ ॥
सर्वानन्दघनाकारा यतः सर्वैरभीप्सिता ।
सुखमात्मस्वरूपं स्यात् सर्वैर्यस्मादभीप्सितम् ॥ ९२ ॥
यदर्थो देहादिभावो यन्न कस्यापि नेप्सितम् ।
यस्यैव लेशो विषयानन्द इत्यभिधीयते ॥ ९३ ॥
स एव भारहानादौ सुषुप्तौ चावभासते ।
चिदेव स्पृहणीयत्वादानन्द इति प्रोच्यते ॥ ९४ ॥
मूढा न हि विजानन्ति स्वात्मभूतं महासुखम् ।
विभिन्नमभिजानन्ति व्यञ्जकानां विभेदतः ॥ ९५ ॥
यथा हि दर्पणे भावा भासमाना निमित्ततः ।
यावद्दर्पणविज्ञानं भिन्ना एव विभान्ति वै ॥ ९६ ॥
विदिते प्रतिबिम्बत्वे भासमानं च पूर्ववत् ।
न दर्पणाद् भिन्नमस्ति स्वादर्शः शुद्ध एव हि ॥ ९७ ॥
एवं विदिततत्त्वस्य जगदेतावदीदृशम् ।
भासमानमपि स्वात्ममात्रमेव न चेतरत् ॥ ९८ ॥

इसी तरह विकल्प से उत्पन्न दृश्य रूप आभास का निषेध करने पर बची हुई परासंचिति तो बेजोड़ ही है। उसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है, अतः वह परमानन्द रूपा भी है ॥ ९०–९१ ॥

सभी आनन्दों की यह घनीभूत मूर्त्ति है, क्योंकि सब उसे चाहते हैं। सुख तो आत्मा का स्वरूप ही है, क्योंकि सब उसकी चाह रखते हैं ॥ ९२ ॥

जिसके लिए देह में प्रीति होती है, जो किसी को भी अप्रिय नहीं लगता और जिसका एक कण ही विषयानन्द कहा जाता है, वह स्वरूपभूत आनन्द ही किसी भार के बोझ के उतरने पर या गाढ़ी नीन्द दीख पड़ती है या उसका अनुभव होता है। दरअसल वांछित होने के कारण चेतन को ही आनन्द कहा जाता है ॥ ९३–९४ ॥

अपनी आत्मा से मिलने वाले उस परम सुख को अज्ञानी आदमी नहीं जानते। ये लोग तो उसे व्यक्त करने वाले विषयों की विभिन्नता के कारण अपने से उसे अलग ही समझते हैं ॥ ९५ ॥

जैसे परछाई रूप निमित्तों के कारण आईने में दीखने वाले पदार्थ जब तक आईने का ज्ञान नहीं होता तब तक अलग ही जान पड़ते हैं, किन्तु जब उनकी परछाईपन का ज्ञान हो जाता है तो पहले ही की तरह दीखते रहने पर भी वे आईने से अलग नहीं रहते, आईने तो निखालिस रहते ही हैं। इसी तरह जिस आदमी को तत्त्व का ज्ञान मिल जाता है, उसके लिए यह दुनिया इसी रूप में दिखलायी पड़ती है। यही अपनी आत्मा है और कुछ नहीं ॥ ९६–९८ ॥

घटादिकं मृदि यथा हेम्नि यद्वद्विभूषणम् ।
प्रतिमाश्च यथा शैले जगदेवं चिदात्मनि ॥ ९९ ॥
जगन्नास्त्येवेति दृष्टिरपूर्णैव भृगूद्वह ।
नास्तीति विपरीतो हि निश्चयो नैव सिद्ध्यति ॥ १०० ॥
साधकात्मजगद्दृष्टेर्भूयः सम्भवतः स्फुटम् ।
नास्तीति शापमात्रेण कथं स्याज्जगतो लयः ॥ १०१ ॥
आदर्शनगरं सर्वमस्त्यादर्शस्वभावतः ।
एवं जगच्चिदात्मैकरूपं सत्यमुदीरितम् ॥ १०२ ॥
पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात् सङ्कोचपरिवर्जनात् ।
दृगेव दृश्यतां प्राप्तं स्वमाहात्म्यप्रकर्षतः ॥ १०३ ॥
यथादर्शो नगरतामेष शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न ॥ १०४ ॥
अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरैवात्रभासिनी ।
सैवाविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम् ॥ १०५ ॥
एतावदेव विज्ञेयं नान्यद्भार्गव विद्यते ।
एतत्तेऽभिहितं राम विज्ञानक्रममादितः ॥ १०६ ॥
एतत् सुविज्ञाय जनो भूयः क्वापि न शोचति ।

जैसे मिट्टी में घड़े, सोने में जेवरात और पत्थर में प्रतिमाओं की प्रतीति होती है, उसी तरह चिदात्मा में यह दुनिया दीख रही है ॥ ९९ ॥

परशुराम ! 'यह दुनिया है ही नहीं' ऐसा सोचना तो अधूरा ही है। क्योंकि 'है ही नहीं' ऐसा विरोधी निश्चय किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ॥ १०० ॥

'है और नहीं है' इन दोनों पक्षों को सिद्ध करनेवाले चिदात्म रूप से संसार की सत्ता साफ-साफ रह ही जाती है। ऐसी स्थिति में यह संसार 'है ही नहीं' ऐसा कह देने से संसार का लोप तो नहीं हो सकता है ॥ १०१ ॥

जैसे आईने में दीखने वाला नगर तो आईने में है ही, उसी तरह यह संसार भी अद्वितीय चिदात्म रूप में सदा सत्य ही है ॥ १०२ ॥

यही पूर्ण विज्ञान है। क्योंकि इसमें किसी तरह की कमी नहीं है। दरअसल हर तरह की आवश्यकताओं और बन्धनों से रहित परम स्वतंत्रता के प्रभाव से दृक् अर्थात् शुद्ध चेतन ही दृश्य अर्थात् संसार का स्वरूप हो गया है। जैसे आईना ही अपने में प्रतिबिम्बित नगर रूप हो जाता है—संक्षेप में शास्त्रों का अभिमत यही है ॥ १०३½ ॥

न कोई बन्धन है और न मुक्ति ही, न कोई साधक है और न कुछ साधन ही; एक अखण्ड एवं बेजोड़ चित्शक्ति ही चमक रही है। वही विद्या है, वही अविद्या है, वही बन्धन है, वही मोक्ष है, वही साध्य और साधन भी है ॥ १०४–१०५ ॥

हे भार्गव ! इतनी ही बातें जानने योग्य हैं और कुछ नहीं। ज्ञान पाने का यह

नारदैष ज्ञानखण्डः सूपपत्त्युपलब्धिकः ॥ १०७ ॥
श्रुतो न नाशयेत् कस्य मोहमज्ञानसम्भवम् ।
श्रुत्वाप्येतद्यस्य मोहो न शान्तिं प्राप्नुयात् क्वचित् ॥ १०८ ॥
स शैलपुरुषो लोके केन ज्ञानं पुनर्भवेत् ।
सकृदेव श्रुतं ह्येतद्विज्ञानं जनयेद् दृढम् ॥ १०९ ॥
द्विधा त्रिधा वा मन्दस्य ज्ञानं न जनयेत् कथम् ।
एतत् पापौघशमनं श्रुतं विज्ञानदं मतम् ॥ ११० ॥
लिखितं दृष्टिदोषघ्नं पूजितं चित्तशोधनम् ।
मूढतानाशनं चैतत् सर्वदा परिशीलितम् ॥ १११ ॥
सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्याधिगतं स्फुटम् ।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत्त्रिपुरैव ह्रीम् ॥ ११२ ॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये द्वादशसाहस्र्यां संहितायां ज्ञानखण्डे द्वाविंशोऽध्यायः ।

सिलसिला शुरू से ही मैंने तुम्हें सुनाया है । इसे ठीक से हृदयङ्गम कर लेने पर किसी आदमी को किसी तरह का शोक नहीं होता है ॥ १०६½ ॥

हारितायन मुनि ने नारद से कहा — यह ज्ञानखण्ड अच्छी तरह सुन्दर युक्ति और अनुभव से भरा है । यदि इसे ध्यानपूर्वक सुना जाय तो ऐसा कौन आदमी है जिसका अज्ञानजनित मोह भंग न हो जाय ? ॥ १०७½ ॥

यह सुनकर भी जिसका मोह भंग न हो, वह इस दुनिया में आदमी होकर भी पत्थर की प्रतिमूर्त्ति है । उसे फिर किसी से ज्ञान नहीं मिल सकता ? ॥ १०८½ ॥

इसे जो एक बार सुन लेता है, उसका ज्ञान पक्का हो जाता है । दो-तीन बार इसे सुनने पर मन्दबुद्धि व्यक्ति भी ज्ञानी बन जाता है ॥ १०९½ ॥

इसे जो सुनता है, उसका पाप विनष्ट हो जाता है । वह विशुद्ध ज्ञान पा लेता है । इसे जो लिखता है, उसका दृष्टिदोष मिट जाता है । जो इसकी पूजा करता है, उसका चित्त पवित्र हो जाता है । जो इस पर विचार करता है, उसका अज्ञान सदा के लिए मिट जाता है ॥ ११०–१११ ॥

जो सबकी आत्मा के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है, उसे विचारपूर्वक साफ-साफ जान लिया जाय तो फिर उस जानकार को मुक्ति मिल जाती है । अन्यथा उसके लिए बन्धन तो है ही । यह देवी त्रिपुरा का स्वरूप ही है । — ह्रीम् ।

बाईसवाँ अध्याय समाप्त ।

शाके रसेन्दुनिधिचन्द्रे धिषणेकुक्षिबाहुले ।
समाप्तिरगमद् व्याख्या विमलेयं मयेरिता ॥

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंवर्द्धिनीम् ।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मैकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्कवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि ।
वैकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा वैकुण्ठञ्च समाययौ ॥
(६-७-१९६९)

बाणव्योमाङ्कचन्द्राऽब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनौ ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥
(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंवर्द्धिनीम्।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मैकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्कवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि।
वैकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा वैकुण्ठञ्च समाययौ ॥

(६-७-१९६९)

बाणव्योमाङ्कचन्द्राऽब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनौ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥

(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका